# पीढ़ियों का प्रवाह

डा. ब्रजवल्लभ मिश्र

# पीढ़ियों का प्रवाह

आधुनिकता बोध पर आधारित
एक दृश्यीय नाटक

श्री पाण्डेयजी को सप्रेम
भेंट,
आचार्या
25/3/2014

डॉ. ब्रजवल्लभ मिश्र

प्रकाशक
ग्रन्थालयम्
दिल्ली. मथुरा, मुंबई

● प्रकाशक

**ग्रन्थालयम्**

२८, भारती आर्टिस्ट कालोनी,
विकास मार्ग,
दिल्ली - ११० ०९२.

● **फोन** दिल्ली : २२४ ६६६१
मुंबई : ८९२ २५०३
मथुरा : ४० ५२५१

© सर्वाधिकार लेखकाधीन

● प्रथम संस्करण १९८४
**द्वितीय संस्करण १९९८**

● मूल्य - पच्चीस रुपये

● मुद्रक :

**लक्ष्मी प्रिंन्टिंग प्रेस**

मथुरा.

# अपनी दृष्टि

वर्तमान हिन्दी-नाटक की दयनीय दशा को हम चाहे किसी आग्रह के कारण स्वीकार न करें, इस सत्य से विमुख नहीं हो सकते कि हिन्दी आज भारत की राष्ट्र-भाषा है और राष्ट्र-भाषा हिन्दी का रंगमंच ही आज सर्वाधिक पंगु है। हिन्दी में नाट्य-लेखकों का अभाव नहीं, किन्तु उनमें से अधिकांश लेखकों को रंगमंचीय शिल्प का ज्ञान नहीं है और न वे नाट्य-लेखन के लिये उसे आवश्यक समझते हैं। कुछ लेखक नाटक के ऊपर छप अपने नाम को ही नाटक की सफलता की मोहर समझते हैं। ऐसे लेखकों के कारण उन लेखकों को भले ही लाभ हो रहा हो, हिन्दी रंगमंच के उन्नयन का मार्ग पूर्णतः अवरुद्ध हो गया है।

हिन्दी की आधुनिक विधाओं में नाटक की स्थिति निरन्तर ह्रासोन्मुखी है। हिन्दी का रंगकर्मी इस अभाव की वेदना से सर्वाधिक प्रभावित और पीड़ित है। नाटक के क्षेत्र में विचित्र बात यह है कि प्रसाद के काल में नाट्य-प्रशिक्षण की वैज्ञानिक प्रविधियों का विकास नहीं हुआ था, रंगमंच के प्रशिक्षित विशेषज्ञ नहीं थे। आज रंग-प्रशिक्षण के अनेक केन्द्र हैं, आये दिन कार्यशालायें आयोजित होती रहती हैं, नाटक पर गोष्ठियाँ होती हैं और नाट्य-शिल्प पर पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही हैं। आज हिन्दी-रंगमंच के क्षेत्र में सैकड़ों प्रशिक्षित स्नातक हैं । साथ ही नाटक की अभियांत्रिकी इतनी समुन्नत हो चुकी है कि मंच पर कठिन से कठिन दृश्य सुगमता से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। मंच पर चलते हुए बादल दिखाना, वर्षा दिखाना, सरिता का प्रवाह, अग्नि आदि प्रदर्शित करने के लिए अनेक वैज्ञानिक उपकरणों का आविष्कार हो चुका हैं। रंग-दीपन के लिये नये प्रभावशाली यन्त्र और नयी पद्धतियाँ विकसित हो गई हैं। इतने पर भी आज हिन्दी-नाटकों के अभाव के कारण प्रशिक्षित स्नातक अन्य भाषायी नाटकों से अपनी तुष्टि करते हैं।

इसका कारण यह है कि हिन्दी-साहित्य में प्रारम्भ से ही कुछ भ्रान्त धारणाएँ स्थापित हो गयीं थीं । नाटक को कला की अपेक्षा साहित्य स्वीकार कर लिया गया। यथार्थतः नाटक कला और साहित्य के रूप में विभक्त न होकर साहित्य का कलात्मक संस्करण है। वह साहित्य की चित्रात्मक प्रस्तुति है, जिसकी अभिव्यक्ति का माध्यम प्रारम्भ से आज तक चेतन पुरुष है। सैद्धान्तिक दृष्टि से नाटक दृश्य-काव्य है। उसका रंग-शैल्पिक परिवेश उसकी आत्मा है, अभिनेयता उसकी संजीवनी शक्ति है । अपने इसी मौलिक परिवेश के कारण वह श्रव्य से इतर है। नाट्य-रचना के क्षेत्र में जो लेखक रंगधर्मी तत्त्वों से जितना अधिक सुसम्बद्ध है, उसकी रचना में प्रभावान्विति भी उतनी ही प्रगाढ़ हो जाती है।

सर्व विदित है कि भारतेन्दुजी दशाश्वमेध घाट पर स्थित `हिन्दू नेशनल थियेटर' में जाया करते थे। प्रसादजी ने नाटय-शिल्प पर अनेक निबन्ध लिखे थे, उसे विधिवत् समझा था। अतः उनके नाटकों में रंगमंचीयता के गुण विद्यमान हैं।

प्रसादोत्तर काल में साहित्य में आधुनिकता-बोध का नारा तेजी से गूँजने लगा । साहित्य के लिए 'माडर्न सैन्सबिलिटी' होना अपरिहार्य तत्त्व स्वीकार किया गया।

साहित्यकारों के चिन्तन में आधुनिकता-बोध की माँग का परिवर्तन किसी अप्रत्याशित घटना अथवा किसी दुराग्रह के कारण उत्पन्न नहीं हुआ। इस प्रक्रिया की पृष्ठभूमि में युग के परिवेश का अप्रत्याशित परिवर्तन तथा सर्जक की बौद्धिक चेतनी की भागीदारी थी। एक ओर पाश्चात्य जीवन-दृष्टि यहाँ के नागरिक वर्ग को प्रबुद्ध बनाती जा रही थी; आस्थावादी पुरातन दृष्टिकोंण समाप्त हो चला था और लोग तर्क के आधार पर जीवन का मूल्यांकन करने लगे थे। ऐसे ही समय में विज्ञान के विकास ने समाज को स्थूल तथ्यों के प्रभाव दिखाकर चमत्कृत कर दिया था। जादू-टोना, जन्तर-मन्तर की सभ्यता नागरिक जीवन से विच्छिन्न होने लगी और बुद्धि ने केवल

साक्षात्कार की प्रामाणिकता पर ही विश्वास करना श्रेयस्कर समझा। इसके साथ ही स्वतन्त्र भारत की राजनैतिक परिस्थितियाँ तेजी से प्रतिकूल मोड़ लेती चली गयीं। राजनीति में भ्रष्टाचार और स्वार्थपरता दिनोंदिन बढ़ने लगे। कुल मिलाकर एक ऐसा वातावरण उत्पन्न हो गया कि समाज का वैचारिक धरातल पूर्णतः परिवर्तित हो गया। २० वर्ष पूर्व साहित्य-जगत में जो मान्यताएँ थीं, वे धूमिल ही नहीं अर्थहीन हो गयीं।

आधुनिकता-बोध का केन्द्रीय तत्त्व बौद्धिक सजगता है। बौद्धिकता के साथ साहित्यकार को स्वतन्त्र भारत में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की सुविधा प्राप्त हुई अतः उसमें 'स्व' की भावना का विकास हुआ। समकालीन साहित्य में बौद्धिकता, स्वचेतना तथा समसामयिक परिवेश के प्रति सजगता परिलक्षित होती है।

मनुष्य का बौद्धिक हो जाना बुरा नहीं है; किन्तु बौद्धिकता के नाम पर एकपक्षीय दृष्टि को संकीर्ण कर लेना, जीवन के लिये घातक है। आधुनिकता-बोध के क्षेत्र में बौद्धिकता इतनी प्रधान हो गयी कि वह सहज ज्ञान को भी बौद्धिकता के जाल में उलझाने लगी बौद्धिकता के कारण समकालीन साहित्य में अनेक वैचारिक आन्दोलन उत्पन्न हुए। देखते ही देखते मार्क्स का भौतिकवादी द्वन्द्वमूलक संघर्ष, मैथ्यू आरनोल्ड का यथार्थवाद, फ्रायड का मनोविज्ञान आदि हिन्दी-साहित्य पर हाबी हो गये।

काव्य के क्षेत्र में सन् १९४३ में प्रकाशित प्रथम 'तार सप्तक' से जो वाद-विवाद की बौद्धिक प्रवृत्ति प्रवर्तित हुई तो प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, साठोत्तरी कविता, अकविता, विचार कविता, अद्यतन कविता जैसे अनेक अल्प-आयु काव्यान्दोलन बनते-मिटते रहे। इस संदर्भ में मिथिक, इम्प्रैशन, एब्सर्ड, यौन-प्रतीक, बिम्ब आदि शब्दों का प्रयोग होने लगा । युगजन्य अनेक प्रकार के बाह्य प्रभावों के कारण आधुनिकता-बोधी साहित्य में 'अस्वीकृति', आक्रोश और विद्रोह का स्वर उठा; साथ ही संत्रास और घुटन का चित्रण अधिक होने लगा। इस संदर्भ में यह तथ्य विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि साहित्यकार के मस्तिष्क में अभिनव चेतना के विभिन्न तत्त्वों का संक्रमण इतनी क्षिप्रता से

हुआ कि उसकी सृजन-प्रक्रिया और उद्देश्य के बीच एक 'तनाव' की स्थिति पैदा हो गयी।

कुछ काल के बाद साहित्यकार के मानस ने यह अनुभव किया कि भौतिकवादी विकास के बाबजूद मानवीय मूल्यों में उत्तरोत्तर ह्रास उत्पन्न हो रहा है। अतः वैज्ञानिक उपलब्धियों के कारण उसमें वैज्ञानिक परिवेश के प्रति जो लगाव उत्पन्न हुआ था, वह गहरी निराशा मे बदलने लगा। इन स्थितियों ने आधुनिक साहित्य में असन्तोषमूलक तनाव को जन्म दिया और साहित्यकार अपनी छटपटाहट में नित नये आन्दोलनों को जन्म देने लगा। उसकी मान्यताएँ और जीवन-मूल्य स्थिर न रह सके । सृजन की मूल प्रवृत्ति प्रतिक्रियावादी हो गयी। आधुनिकतावादी गन्तव्य से पूर्व उद्देश्य की सार्थकता को अस्वीकृत करके आगे बढ़े थे। वे इस सिद्धान्त को भूल गये कि अस्वीकृति, आक्रोश और तनाव की स्थिति में स्वस्थ्य साहित्य का सृजन नहीं हो सकता। युगीनपरिवेश के वैज्ञानिक विकास के सत्य को पहचानना साहित्यकार की सजगता है; किन्तु साहित्य और विज्ञान के मूलभूत अन्तर का अन्वेषण करना भी उसी का दायित्व है।

साहित्य और विज्ञान दो स्वतन्त्र विधाएँ हैं, उनकी रचना-प्रक्रिया के आधार भिन्न है। विज्ञान साहित्यकार के समकालीन परिवेश को प्रभावित कर सकता है; किन्तु साहित्यकार पैदा करने की मशीन नहीं बना सकता। विज्ञान दूसरा शेक्सपियर नहीं बना सकता, दूसरा मिल्टन उत्पन्न नहीं कर सकता। विज्ञान का सम्बन्ध संसार की स्थूल और जड़ वस्तुओं से है, साहित्यकार का सम्बन्ध भावलोक की सूक्ष्म और चेतन सम्पदा से। विज्ञान के आविष्कार हेतु भौतिक पदार्थों से निर्मित प्रयोगशाला अपेक्षित है, साहित्य के सृजन हेतु मानव शरीर के अन्तर्गत हृदय, बुद्धि और मानसिक चेतना आदि की अनेक प्रयोगशालाएँ सक्रिय होकर साहित्य का सृजन करती हैं। शरीर में स्थित इन प्रयोगशालाओं की कार्यविधि इतनी जटिल है कि कभी-कभी बहुत प्रयत्न करने पर भी एक सार्थक पंक्ति का सृजन नहीं कर पाती।

विज्ञान का विकास भौतिक संसाधनों का विस्तार करता है। साधनों से हमारे जीवन की आवश्यकताओं का अनिवार्य सम्बन्ध है। भौतिक साधन हमारे जीवन के विकास क्रम में हमारे साथी बनते है। साहित्य में उनकी चर्चा अपेक्षित ही नहीं, युगीन परिवेश को रूपायित करने के लिये परम आवश्यक है। उनके प्रभाव के द्वारा हमारी जीवन-दृष्टि और परिवर्तित मान्यताओं का चित्रण भी साहित्य में होना चाहिये। विज्ञान का प्रभाव कथ्य की विषयवस्तु और शैली तक ही सीमित है, वह मानव की चेतना के प्रकृत्त स्वभाव को नहीं बदल सकता, जीवन-दृष्टि के नैसर्गिक मूल्यों में कभी परिवर्तन नहीं ला सकता। सौन्दर्यप्रियता के शाश्वत सत्य को कदापि नहीं बदल सकता। यह प्रकृत सत्य है कि माँ की कुक्षि से बेटी का जन्म होता है। विज्ञान बेटी की कोख से माँ का जन्म नहीं करा सकता। विज्ञान मनुष्य के प्रकृत स्वभाव से प्रहर्ष, करुणा, भय, हास्य आदि मिटाकर मनुष्य को भावहीन नहीं बना सकता।

जहाँ तक आधुनिकता-बोधी साहित्य में 'स्व' की भावना का प्रश्न है, यह सत्य है कि प्रत्येक रचना में स्वचेतना से ही वैयक्तिकता के गुण का महत्व उत्पन्न होता है। प्रश्न यह है कि वैयक्तिकता का प्रयोग पाठकों के लिये उपयोगोन्मुखी होना चाहिये अथवा अपने अहम् को प्रतिभासित करने के लिये ? अपने अहम् की पहचान बनानेवाला स्वबोध पूर्णत एकांगी है। साहित्य या तो स्वान्तःसुखाय हो तो आत्म-निष्ठता का औचित्य सिद्ध होता है अन्यथा उसके सम्प्रेषण के साथ ही वह पाठक से जुड़ जाता है। इस द्विपक्षीय प्रक्रिया में आधुनिकताबोधी अपनी अस्मिता बनाए रखने को सजग है। इसके **विपरीत** पाठक भी अपनी अस्मिता को विस्मृत करने को तैयार नहीं है। यही कारण है कि पाठक-वर्ग ने व्यक्तिनिष्ठ और आरोपित साहित्य को कभी सहज स्वीकृति नहीं दी। साहित्य-सृजन के समय दोनों पक्षों की भावना को संयुक्त करके देखना परम आवश्यक है। आधुनिकता के बोध से प्रेरित साहित्य के क्षेत्र में प्रगतिवाद से लेकर अद्यतन होने वाले काव्यान्दोलनों के जन्म और मरण इस सत्य के प्रमाण हैं। साहित्य की प्रवृत्ति आरोपित न होकर सहज होनी चाहिये।

आधुनिकता-बोध के नाम पर जो साहित्य इस अवधि में प्रकाशित हुआ, उसमें जीवन की विसंगतियाँ, कुरूपता तथा महानगरीय यौनाचारों के चित्र ही अपेक्षाकृत अधिक प्रस्तुत किये गये हैं। महानगरीय अधुनातन सभ्यता में यौन-सम्बन्धों में एक नया परिवर्तन आया है। यह परिवर्तन नैतिकता की दृष्टि से कुछ भिन्न प्रकार का है। बह भिन्नता चूँकि परम्परागत मूल्यों से हटी हुई है, अतः साहित्यकारों ने उसी को उछालना अपना लक्ष्य बना लिया। इस प्रकार का साहित्य लिखनेवाला व्यक्ति वस्तुतः साहित्यकार न होकर एक रिपोर्टर भर बनकर रह गया है। नाम अधुनातन सभ्यता का लेता है, महानगरीय जीवन की जीवन्त प्रस्तुति का दावा करता है; कहते समय यह भूल जाता है कि मैं महानगरीय सभ्यता को पूरे परिवेश में नहीं देखता, उसके एक बहुत छोटे से वर्ग की रिपोर्टिंग कर रहा हूँ। अन्यथा महानगरों में यदि अधुनातन सभ्यता वाले लोग रहते हैं तो मध्य-वर्ग और निम्न-वर्ग के भी असंख्य लोग रहते हैं। आज भी महानगरीय जीवन में सभ्यता के आधुनिक बोध की चेतना का प्रभाव बहुत कम प्रतिशत जन-जीवन पर ही पड़ सका है। महानगरों की आबादी में साधारण दूकानदार, वेतनजीवी, शिक्षक, रिक्शेवाले, कुली, मजदूर, कारीगर, न जाने कितने ऐसे लोग हैं जो आधुनिक सभ्यता के साक्षी तो है; स्वयं भोगी नहीं है। अतः बिना यह विचार किये यह मान लेना कि महानगरीय जीवन पूर्णतः आधुनिक-बोध से संयुक्त है, कदापि समीचीन नहीं।

इस सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि आधुनिकता-बोध के नाम पर सच्चे साहित्यकार को अपनी दृष्टि सीमित और संकुचित नहीं कर लेनी चाहिये ? क्या उसके कथ्य का प्रतिपाद्य महानगरों तक ही सीमित है ? क्या उसे देश के शेष जन-जीवन की ओर से उदासीन होकर बैठ जाना है। इस देश की ८० प्रतिशत जनता आज भी गाँवों में रहती है। क्या उनका बर्णन आधुनिक साहित्य में वर्जित है ? गाँव का जन जीवन आज भी अपनी परम्परागत आस्थावादी सभ्यता से जुड़ा हुआ है। बाह्यय और स्थूल स्तर तक उसके घर में चाहे विद्युत के प्रकाश का प्रयोग होने लगा है, उसके खेत में ट्रेक्टर चलने

लगा है लेकिन उसके पारिवारिक अनुष्ठान और जीवन-संस्कार परम्परा से जुड़े हुए हैं। भारतीय किसान की पत्नी 'बॉबकट' होकर बॉय-फ्रैण्ड के साथ 'काफी हाउस' में बैठकर सिने-तारिकाओं की समीक्षा नहीं करती। वह अब भी गाँव के गलियारे में घूँघट मारकर अपनी गदराई काया पर गाँव की रज का आलिंगन करती हैं, छप्पर की छाँह में बैठकर अपने जानवरों का गोबर पाथती हैं और पनघट की पगडंडी पर अपनी पायल के नूपुरों की झनकार छेड़ती है। साहित्य की अभिनव चेतना का तात्पर्य यह नहीं कि देश की ८० प्रतिशत जनता को उपेक्षित करके समाज के ५ प्रतिशत लोगों की कुरूपताओं का वर्णन ही किया जावे।

आधुनिकता-बोध वस्तुतः सत्य की अपेक्षा एक नारा है। इसमें संदेह नहीं कि नारा लगाने वाला वर्ग बौद्धिक है, वह समाज की युगीन चेतना के प्रति जागरुक है। किन्तु आधुनिकता-बोध के नाम पर रचे गए साहित्य का तात्त्विक अनुशीलन करने पर यह बात साफ तौर पर नजर आती है कि इस वर्ग के पास 'विजन' है, उस 'विजन' को गतिशील बनाकर उसे सर्जनात्मक आयाम की सार्थकता से जोड़ने की दृष्टि नहीं है। बौद्धिक चेतना से संयुक्त साहित्यकार समाज की विसंगतियों और विरोधों की सही पहचान करता है; लेकिन उसकी दृष्टि विसंगतियों की खोज में बँधकर अटक जाती है। वह सृजन की उस गतिशील भूमि पर नहीं पहुँच पाता, जहाँ से वह तटस्थ होकर सही और सार्थक अर्थवत्ता ग्रहण कर सके। यही कारण है कि आधुनिकता-बोधी साहित्य विसंगति, कुरूपता, विरोध और विषमता का एकांकी प्रलाप बनकर रह गया है और अब उसके कथ्य में इतना बासीपन आ गया है कि उसमें से दुर्गन्ध और ऊब आने लगी है। उसकी ताजगी तभी जीवित रह सकती है, जब उसमें सृजन की सार्थक गतिशीलता के साथ-साथ लेखक की नैसर्गिक प्रतिभा का सामंजस्य करते हुए, उसकी प्रासंगिकता को द्विपक्षीय दृष्टि से युगीन अर्थवत्ता की सार्थकता प्रदान की जावे।

आधुनिकता-बोध के नाम पर लिखे जाने वाले साहित्य की निरन्तर असफलता ने आज साहित्यकार के मन में भय और ऊहा को जन्म दिया है।

मोहभंग की प्रक्रिया की भाँति अन्दर से उसकी आस्था भंग होकर किसी सार्थक दिशा की खोज करने लगी है। आज आवश्यक हो गया है कि वह अपने आग्रह के दायरे से बाहर निकलकर वैज्ञानिक परिवेश की युगीन चेतना का पुनर्मूल्यांकन करे। विज्ञान के इस सिद्धान्त को समझे कि विज्ञान के आविष्कार भी न तो व्यक्तिनिष्ठ होते है और न एकपक्षीय। विज्ञान के क्षेत्र में जिस वैज्ञानिक ने 'विद्युत-शक्ति' का आविष्कार किया होगा, उसकी उपयोगिता लोक द्वारा स्वीकृत और प्रमाणित होने के कारण ही आज उसकी सार्थकता है। प्रत्येक सृजनात्मक कार्य के मध्य प्रवर्तक और प्रयोगकर्ता के सम्बन्धों की सार्थकता का प्रश्न अनिवार्यतः स्थित रहता है।

प्रत्येक सर्जनात्मक कार्य में एक ऐसी गतिशील ऊर्जा की अपेक्षा होती है, जो व्यक्तिनिष्ठ चेतना को लोकहित की ओर गतिशील बनाती रहे और लोक तक पहुँच कर उसकी गतिशीलता उसे सृष्टि की चेतना में विलीन करने की क्षमता रखे। व्यष्टि और समष्टि के मध्य जब तक गतिशील परावर्तन का यह नियम प्रोटोन, इलैक्ट्रोन और न्यूट्रोन के स्पन्दन की भाँति, सौर-मण्डल की गति के समान प्रवाहित नहीं होगा, साहित्य व्यक्तिवाद के संकुचित दायरे में घुटकर सड़ने लगेगा, उसमें वह ऊर्जा और ताजगी नहीं आ सकती। यद्यपि आज आधुनिकता-बोधी साहित्यकारों के समक्ष, अपनी विफलता का अहसास होते हुए भी, यह प्रश्न खड़ा हुआ है कि वे कल के अपने कहे हुए सत्य को आज कैसे झूँठ कह दें। इससे उनके अहम् को ठेस पहुँचती है; किन्तु उन्हें पुनः सोचना होगा कि साहित्य-सृजन का मूल अहं नहीं है।

साहित्यकार को समसामयिक बोध के सन्दर्भ में युगीन परिवेश की प्रासंगिकता के साथ-साथ सृजन के उद्देश्य की लोकोन्मुखी उपयोगिता की सार्थकता पर भी गहनता से विचार करना होगा। साहित्य की अन्तिम स्वीकृति लोक से अनिवार्यत जुड़ी हुई है। साहित्य की संचेतना किसी शिविर, वाद अथवा वर्ग मात्र की स्वीकृति अथवा बौद्धिक मानदण्डों के हाथों गिरवी रखी हुई वस्तु नहीं है, वह हृदय की उन्मुक्त और स्वच्छन्द हवा है, भावलोक की भूख है, जिसके लिए लोकमानस सदैव आतुर और लालायित रहता है।

प्रस्तुत नाटक 'पीढ़ियों का प्रवाह' आधुनिक जीवन का एक चित्र है। इसके पात्र प्रतीकात्मक होते हुए भी सहज सामान्य तक पहुँचने वाले चरित्र हैं। कथानक को रोचक बनाने के लिये हास्य-व्यंग्य का अपेक्षित प्रयोग किया गया है। आधुनिक बोध का वैचारिक धरातल जिन विसंगतियों का पर्याय बन गया है, उन्हें भी नाटक में उभारा गया है।

कुन्जबिहारी पुरानी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है। उसके चरित्र में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि पथ-प्रदर्शक का काम बड़ों को ही करना पड़ता है। नयी पीढ़ी के पास जोश है, होश नहीं। पुरानी पीढ़ी के पास दीर्घ अनुभवों की सम्पदा है, जीवन को सुन्दर और शाश्वत बनाने के लिये तपी हुई उम्र की गम्भरी दृष्टि है। अतः उसे युगानुकूल परिवर्तन के लिये सन्नद्ध रहना चाहिये। नयी पीढ़ी युगीन सभ्यता के संक्रमण से अछूती नहीं रह सकती। वह बिना विचार किये नयी जीवन-दृष्टि के प्रवाह में बहती चली जा रही है। ऐसे सन्धि-काल में पुरानी पीढ़ी पर दुहरा दायित्व आ पड़ा है। उसे परम्परागत मान्यताओं और रूढ़ियों से संवलित अपने मानस को अभिनव युगीन चेतना की और उन्मुख करना है तथा अनुभवपूत जीवन-दृष्टि से सार्थक जीवन-मूल्यों को सही परिवेश में समझ कर नयी पीढ़ी को उन्हें समझाना है।

कुन्जबिहारी के चरित्र का सृजन इसी अभीष्ट की प्राप्ति हेतु किया गया है। वह युग-धर्म को हृदयंगम कर नयी पीढ़ी को अभिनव जीवन-दृष्टि देता है। इसके लिये वह उपदेश का मार्ग न अपना कर, आचरण से नयी पीढ़ी को प्रेरित करना अपनी दृष्टि में अधिक श्रेयस्कर समझता है।

ज्योति आधुनिक शिक्षा और वातावरण में पली वह लड़की है, जो प्रारम्भ से ही स्वच्छन्द रहने के स्वप्न देखती है। वह अपने ऊपर परिवार तथा पति का अंकुश पसन्द नहीं करती; किन्तु जब यथार्थ के कठोर कठघरे में पहुँचती है तो उसकी भावनाएँ कुण्ठाओं में परिवर्तित होने लगती हैं। शनैः-शनैः उसके स्वभाव में अस्थिरता, घुटन एवम् आक्रोश उत्पन्न हो जाता है। वह अनेक बार स्थिर होने का प्रयास करती है; किन्तु क्षणिक घटना के किंचित से आघात से उसके चित्त में पुनः आवेश क्रियाशील हो जाता है और वह पुनः अस्थिर हो

जाती है। उसके चरित्र में उसका पल-पल में परिवर्तित होनेवाला स्वभाव इसी दृष्टि को स्पष्ट करता है। वह न तो भारतीय पुरातन आदर्शों को माननेवाली आदर्श पत्नी रह पाती है और न पूर्णतः आधुनिक नारी ही बन पाती है। उसका चरित्र ऊहापोह तथा अपरिपक्व विचारों का प्रतीक है। नाटक के अन्त तक पल-पल में उसके विचारों का परिवर्तन उसके चरित्र का लाक्षणिक प्रतीक है। अन्त में वह अपने श्वसुर के घर दीपावली पूजन को जाती है। नाटक का अन्त यहीं कर दिया गया है कि ज्योति का पता नहीं, वह अस्थिर चित्त की है, हो सकता है, पूजन करके पुनः पति के घर लौट आवे। अन्तिम निष्कर्ष न दिखाकर अन्त को सुखान्त अवश्य बनाया गया है; किन्तु वह भी सांकेतिक ही है।

आधुनिक जीवन संघर्ष और समस्याओं का बीहड़ जंगल है, जिससे सहज की बाहर नहीं निकला जा सकता। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अगणित समस्याएँ हैं। जाटिल्य की विषमता इतनी बढ़ गयी है कि उनका आज परिगणन भी दुष्कर है। अतः नाटक में उसकी एक पक्षीय झाँकी ही प्रस्तुत की गयी है। नाटक में मध्यवर्गीय परिवार को कथ्य का मुख्याधार बनाया गया है। कारण ग्राम्य-सभ्यता अभी पुरातन परम्पराओं और धार्मिक आस्थाओं से पर्याप्त जुड़ी हुई है, सम्पन्न परिवार पाश्चात्य सभ्यता के परिवेश में अपनी जीवन-दृष्टि अलग निर्धारित कर चुका है। घुटन और संत्रास में केवल मध्य-वर्ग को किसी सार्थक जीवन-दृष्टि की तलाश है। नाटक में मध्यवर्गीय परिवार के विघटन की समस्या को केन्द्र बनाकर कुछ अन्य समस्याओं को सांकेतिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। नाटक में आधुनिक शिक्षा और छात्र के चरित्र को भी स्पर्श किया गया है। शिक्षा-पद्धति का परिवर्तन जिस वर्ग के हाथ में है, उसके चरित्र को परोक्ष रूप से प्रस्तुत कर संकेत दे दिया गया है कि इस प्रकार के कर्णधारों से परिवर्तन की अपेक्षा करना निरर्थक कल्पना है।

छात्र के रूप में मनोज का चरित्र प्रस्तुत किया गया है। देश के भविष्य से छात्र का सीधा सम्बन्ध है। आगे चलकर देश की विधानपालिका, न्यायपालिका तथा व्यवस्था को संभालने का भार छात्रों पर ही है। प्रत्यावर्तन के सूत्र के रूप

में छात्र की महत्ता सर्वोपरि है। अतः आशा की किरण के रूप में मनोज का चरित्र प्रस्तुत किया गया है। वह छात्र के स्वच्छ और स्पष्ट जीवन का चित्र प्रस्तुत करता है। अपने आचरण से छात्र की सही जीवन-दृष्टि की ओर इंगित करता है। नाटक में उसके चरित्र का उद्‌घाटन भर अभीष्ट था। फलागम अभी भविष्य के आवरण में है अतः उसे सायास छोड़ दिया गया है। वह नाटक में कथा के किसी भी भाग का नियामक नहीं; क्योंकि वह नाटक में विशुद्ध छात्र का प्रतीक भर है, जिसका भविष्य अभी स्पष्ट नहीं है।

आधुनिक बोध से सम्बन्धित भाषा और शब्दावली का सोद्देश्य प्रयोग किया गया है। परम्परागत शब्द-प्रयोग, उपमाएँ और उपमानों के लिये आधुनिक युग के अभिनव प्रतीकों और शब्दों को प्रयोग में समाश्रित किया गया है। यथा प्रसंग अँग्रेजी तथा उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी आधुनिकता का द्योतक है।

रंगमंचीयता की दृष्टि से नाटक के प्रत्येक स्थल पर आंगिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक भावों के प्रयोग के निर्देश देने की चेष्टा की है। नाटक-रचना के समय मंचन की समस्याएँ भी विचारणीय रही हैं।

आधुनिक रंगमंचीय शिल्प में पात्रों के कार्य-व्यापार के स्थान पूर्व ही निर्धारित कर दिये जाते हैं, तदनुरूप दीपन-यन्त्रों को उन्हीं कोणों में पहले ही स्थित कर दिया जाता है। नाटक में दीपन-निवेश की दृष्टि से दृश्यबंध को सज्जा-सामग्री से समायोजित करने का प्रयत्न भी किया गया है। दृश्य अथवा सम्बन्धित उपकरणों के परिवर्तन हेतु सर्कस वालों की भाँति कर्मचारियों का पृथक् दल नहीं होता और न उसके पास भव्य उपकरण बनवाने के लिये पर्याप्त आर्थिक व्यवस्था होती है। अतः पूरे नाटक में एक ही दृश्य रखा गया है ताकि प्रस्तोता इस ओर से निश्चिंत होकर अपनी समग्र शक्ति नाटक की अभिनेयता पर केन्द्रित कर सकें, जो नाटक की संजीवनी शक्ति है।

नाटक में मंच पर प्रस्तुत होने वाले केवल ८ पात्र हैं। शेष ८ पात्र परोक्ष में रहते हैं, जिन्हें सूच्य कथानक के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। बंगला, मराठी तथा गुजराती रंगमंच की तुलना में हिन्दी-रंगमंच के क्षेत्र में महिला पात्रों

का अभी अपेक्षाकृत अभाव है। अतः नाटक में केवल एक ही महिला पात्र ज्योति मंच पर प्रस्तुत की गयी है। शेष महिला पात्रों का अभिनिबेश परोक्ष में किया गया है।

नाटक से मेरा तीस वर्ष प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है। अभिनेता, लेखक, निर्देशक तथा नाट्य-शिक्षक के रूप में जो कुछ समझ पाया, उसके आधार पर यह नाटक लिखने का प्रयत्न किया है। यह कृति पूर्ण करके न गर्व हैं और न संकोच। सुधीजनों की सेवा में यह कृति समर्पित करते हुए हर्ष अवश्य हो रहा है। नाटक को न तो पूर्ण प्रयोगधर्मी ही बनने दिया है और न परम्परागत; क्योंकि नाटक किसी एक वर्ग की सम्पत्ति नहीं, वह `भिन्न रूचेर्जनस्य' होना चाहिये। मेरी ओर से यह विनम्र चेष्टा भर है।

**ब्रजवल्लभ मिश्र**

विजय दशमी। ३०.९.१९९८

बी-१०९, वैशाली एर्पाट्स

देवीदास रोड

बोरीवली (पश्चिम)

मुंबई - ४०० १०३.

# पात्र-परिचय

## पुरुष पात्र

**कुंजबिहारी** : एक परम्परावादी सजग वयोवृद्ध

**विवेक** : कुंजबिहारी का युवा पुत्र

**परसादी** : विवेक का नौकर

**प्रमोद** : विवेक का पुत्र

**केदारनाथ** : नगर के एक सेठ

**राजन** : ज्योति का चचेरा भाई

**मनोज** : एक छात्र

## महिला पात्र

**ज्योति** : विवेक की पत्नी

# पीढ़ियों का प्रवाह

## अंक प्रथम

**दृश्य-विधान --**

एक मध्यमवर्गीय परिवार का कमरा। सामने दीवार में दो खिड़कियाँ हैं। बीच की दीवार में तीन चित्र लटके हुए हैं। सबसे ऊपर कुंजबिहारी का चित्र है, उसके नीचे विवेक का और उसके नीचे प्रमोद का चित्र है। ये तीनों बाबा, पिता और नाती हैं। चित्रों के नीचे एक टेबिल पर कुछ पारिवारिक सामान रखा है। दोनों ओर की खिड़कियों पर साधारण पर्दे हैं। कमरे के बीच में सोफा सेट है, एक सेन्टर टेबिल है, जिस पर मैला कपड़ा है। मंच के दाहिनी ओर एक बड़ी टेबिल और एक कुर्सी है। टेबिल पर बहुत-सा सामान अस्त-व्यस्त पड़ा है। कमरे में दाहिनी ओर को बाहर जाने का रास्ता है, बाँयी ओर अन्दर जाने का मार्ग है। दीवार पर एक फैन्सी कलेण्डर लगा हुआ है।

दृश्य प्रारम्भ होने पर पूर्ण अन्धकार है। एक छोटा सा प्रकाश का घेरा सर्व प्रथम नीचे के चित्र पर पड़ता है। वह घेरा ऊपर उठता हुआ बीच के चित्र पर पहुँचता है। उसके बाद सबसे ऊपर वाले वृद्ध कुंजबिहारी के चित्र पर टिक जाता है। पृष्ठभूमि में हल्का संगीत प्रारम्भ होता है। संगीत मन्द पड़ता है कि अन्दर से एक भारी और थकी हुई आवाज उभरती है। आवाज कुंजबिहारी की है।

**आवाज** : परम्परा के परिवर्तन के प्रवाह में पीढ़ियाँ बहती जा रही हैं और हर प्राणी पीढ़ियाँ के प्रवाह को प्रशान्त प्रतिमा की भाँति देखता आ रहा है। पीढ़ियों के प्रवाह की सरिता समय के शिला-खण्डों से टकरा कर प्रवाहित होती है। उसका जल कभी ज्योत्स्ना की रजत रश्मियों के बिम्ब से हीरक-कणों की भाँति चमकने लगता है, कभी मार्तण्ड की किरणों से तप्त होकर उबलने लगता है और कभी बरसाती गन्दे पानी का रूप धारण कर लेता है। किन्तु....किन्तु....पीढ़ियों के प्रवाह की सरिता कभी रुकती नहीं.... बहती जाती है.... बहती जाती है। [ आवाज कुछ पल के लिये रुकती है, संगीत तीव्र होता है, उसी के साथ-साथ प्रकाश का घेरा पुनः ऊपर के चित्र से नीचे के चित्र तक आता है। संगीत मन्द होने लगता है। उसके साथ ही प्रकाश का घेरा पुनः कुंजबिहारी के चित्र पर जाकर टिक जाता है। खाँसी के साथ पुनः अन्दर से कुंजबिहारी की आवाज आती है ]

**आवाज** : मैं एक पीढ़ी हूँ....जिसे चार पीढ़ियों के प्रवाह में बहना पड़ा है....मेरे पिता की....मेरी अपनी....मेरे पुत्र की....और मेरे....नाती की.... । लेकिन मैं देख रहा हूँ.... चार पीढ़ियों की सरिता के प्रवाह में जल का स्वरूप सदैव परिवर्तित होता रहा है.... । आज की पीढ़ी के जल का स्वरूप....कैसा....है... ? स्वच्छ....शीतल....या....गर्म....? मैं.... नहीं जानता....क्योंकि उसका निर्णय....मैं स्वयं नहीं कर सकता...., कोई व्यक्ति नहीं कर सकता.... । इसका निर्णय व्यक्ति नहीं, समय करता है....समाज करता है.... । मेरा काम तो पीढ़ी के प्रवाह में बहना है.... । बहती हुई पीढ़ी के प्रवाह में जीना है.... जीना और बहना।

[ कुछ पल बाद सारे मंच पर धीरे-धीरे प्रकाश बढ़ता है। कमरे की प्रत्येक वस्तु अब साफ दिखायी देने लगी है। घर का बूढ़ा नौकर परसादी बाहर से कन्धे पर पिसे हुए आटे का डब्बा लेकर आता है। कपड़े साधारण है। एक हाथ में ताला है जैसे स्वयं ही द्वार खोलकर अन्दर आया है। पांव के अंगूठे में हल्की चोट से एक-दो बूंद खून निकल चुका है, जैसे कहीं मार्ग में ठोकर लगी हो। ताला पीछेवाली टेबिल पर रखकर आटे का डब्बा रखने अन्दर जाता है। अन्दर से भीगी कपड़े की पट्टी लेकर मंच पर आता है। खिड़कियों के परदे हटाता है। मंच के अग्र-भाग में बैठकर अंगूठे पर गीली पट्टी बाँधना शुरू करता है कि द्वार की घंटी बजती है। जाकर द्वार खोलता है। कुंजबिहारी को देखकर हाथ जोड़कर सिर झुकाता है। कुंजबिहारी धोती, कुरता, जाकिट पहने है। सिर पर टोपी है। चश्मा लगा है। छोटी पकी मूँछे है। हाथ में बैंत है। कमरे में आकर धीरे-धीरे बढ़ते हुए सारे कमरे पर नजर डालता है। बाद में बीचवाले सोफे पर बैठता है। बैंत को हत्थे के सहारे टिकाता है। परसादी जमीन पर बैठकर पट्टी बांधने लगता है। उसे देखता है। हाथ से संकेत करके पूछना ही चाहता है कि परसादी बोल पड़ता है ]

**परसादी** : आटा पिसाकर ला रहा था। ठोकर लग गयी । थोड़ा खून निकल आया।

**कुंजबिहारी** : डाक्टर से बैण्डेज करा लिया होता....।

**परसादी** : जरा सा खून निकला है... बड़े मालिक। गीली पट्टी बांध ली है।

**कुंजबिहारी** : पुरानी पीढ़ी के पास इसके सिवाय कोई चारा भी नहीं है। जब खून निकले, उस पर ठण्डे पानी की पट्टी बांधकर खून की गर्मी को ठण्डा कर दे। (लम्बी सांस लेकर कमरे में नजर

घुमाता है। दीवार पर लगे फैन्सी कलैण्डर को बैंत से दिखा कर पूछता हैं)

**कुंजबिहारी** : यहां मै भगवान राम-जानकी का चित्र लगा गया था.... ।

**परसादी** : (अटकता हुआ) वो .. वो.. बड़े मालिक....! बहूरानी को पसंद नहीं आया। (हंसता हुआ) उसे हटाकर....ये.... लगा दिया...।

**कुंजबिहारी** : (गम्भीर होकर विचारों में डूबा हुआ) ठीक ही है....परसादी....! पीढ़ियों के परिवर्तन का प्रवाह अलग मार्ग बना रहा है। (चश्मा धोती से पौंछते हुए) हुं.... विवेक अभी दफ्तर से नहीं आया....?

**परसादी** : आते ही होंगे.. बड़े मालिक... !

(तभी प्रमोद स्कूल से आता है। बस्ता लटका है। कुंजबिहारी को दूर से देखते ही प्रसन्न हो जाता है। आयु लगभग १० वर्ष है। झपट कर कुंजबिहारी के पास आकर पांव छूता है। कुंजबिहारी गोद में भर लेते हैं)

**प्रमोद** : दादाजी ! आप कब आये...?

**कुंजबिहारी** : अभी आये... बेटे ।

**प्रमोद** : दादाजी .. ।

**कुंजबिहारी** : हाँ बेटे ।

**प्रमोद** : हम आपके साथ आपवाले घर चलेंगे। हमें यह अच्छा नहीं लगता।

**कुंजबिहारी** : (हंसकर) जरूर चलो...बेटे...। तुम भी चलो सुनीता को भी ले चलेंगे वर्ना उसके बिना तुम्हारा मन नहीं लगेगा।

**प्रमोद** : तो चलिये, उसको स्कूल से साथ ले लेंगे। उसकी छुट्टी ५ बजे होती है।

**कुंजबिहारी** : (परसादी से) ज्योति घर में है...?

**परसादी** : वह ३ बजे के करीब बाजार गयी थीं। कह गयी थीं कि सामान लेकर वह अपनी मां के पास मिलने जायेंगी। तब तक मैं आटा

पिसा लाऊं। यह भी कह गयी थीं कि मैं विवेक बाबू से न कहूं।

कुंजबिहारी : मां के पास जाने की...।

परसादी : तीसरे-चौथे दिन चक्कर लगा आती हैं। कहती हैं कि मां अब बूढ़ी हो गयी है। उन्हें बुढ़ापे में सहारे की जरूरत है। कभी-कभी अपनी सहेलियों के पास मिलने चली जाती हैं।

कुंजबिहारी : हूँ । (घड़ी देखकर) अच्छा, मै चलता हूं ।

परसादी : बैठिये बड़े मालिक... ! विवेक भैया और बहूजी आते ही होंगे।

कुंजबिहारी : नहीं सुनीता को स्कूल से लेना है। सूने घर में मन नहीं लगता। बहू से कह देना कि दिवाली तक बच्चों को मैं अपने पास ही रखूंगा।

परसादी : तो खुद ही कहकर जाइयेगा.. । आती ही होंगी..।

कुंजबिहारी : अपनी माँ के पास गयी है तो कोई भरोसा नहीं कब तक लौटे...? (प्रमोद से) प्रमोद बेटे....!

प्रमोद : जी ....।

कुंजबिहारी : अपने और सुनीता के कुछ कपड़े साथ ले लो।

(प्रमोद अन्दर जाता है। कुंजबिहारी उठकर खड़ा होता है। बैंत को जमीन पर ठकठकाते हुए) परसादी... !

परसादी : मालिक...!

कुंजबिहारी : जवानी का शोर तो सहँन कर लिया, पर बुढ़ापे का सूनापन सहन नहीं होता। जब से विवेक की मां साथ छोड़कर चली गयी, ये जिन्दगी पहाड़ जैसी बोझिल लगने लगी है। बुढ़ापे को कमजोर समझकर कुदरत भी मुँह मोड़ लेती है। रात की नींद साथ छोड़कर भाग गयी है और दिन इतने लम्बे हो गये हैं कि काटे नहीं कटते। बच्चे साथ रहते हैं; तब मन बहला रहता है।

(अन्दर से प्रमोद एक थैले में कपड़े लेकर आता है। कुंजबिहारी से लिपटता है)

**कुंजबिहारी** : (प्रमोद को सहलाते हुए) परसादी....!

**परसादी** : जी मालिक...?

**कुंजबिहारी** : (भावुक होकर) पीढ़ियों के प्रवाह की सरिता का बहाव भी कितना विचित्र है ? (प्रमोद के सिर पर हाथ फेरते हुए) पहली पीढ़ी के साथ... तीसरी पीढ़ी... लिपट रही है... मगर... दूसरी पीढ़ी किसी दूसरे बहाव में... बही... जा रही है.... कटकर अलग मार्ग बनाने की धुन में लगी है।

**परसादी** : (दबे स्वर में) एक बात कहूँ मालिक.. ।

**कुंजबिहारी** : कहो....।

**परसादी** : मालिक आपने ही तो विवेक भैया को अलग रहने की इजाजत दी थी... और...अब...आप ही....।

(परसादी की बात सुनकर कुंजबिहारी गंभीर हो जाता है। कुछ पल नीचे नजर किये बैंत को जमीन पर गढ़ाते हुए सिर उठाकर बोलता है)

**कुंजबिहारी** : इजाजत न देता तो बहू उस घर में चैन से लड़के को न रहने देती। ज्योति के लक्षण देखकर मैं जल्दी ही समझ गया था कि वह बंधन पसंद नहीं करती, उसे स्वतंत्रता चाहिये, ऐसी जिसमें उस पर कोई रोक-टोक न हो। यही सोचकर मैं विवेक के पीछे लगा और उसे खुशी से अलग रहने की आज्ञा दे दी।

**परसादी** : मगर....बडे...मालिक ?

**कुंजबिहारी** : अगर खुशी से आज्ञा न देता तो किसी दिन वह झगड़ा करके अलग होती। (भाव बदल कर) अच्छा...हां...। यह बताओ.. अब यहाँ तो वे लोग चैन से रहते हैं...?

**प्रमोद** : चाहे जब झगड़ने लग जाते हैं दादाजी...। खूब लड़ाई करते हैं। बस डिशिंग डिशिंग नहीं होती।

**परसादी** : (हँसते हुए) बड़े मालिक....! मर्द और औरत का क्या झगड़ा...? अभीं झगड़ा, अभी मेल....। काहे का झगड़ा.. मालिक...।

**कुंजबिहारी** : (लम्बी सांस लेकर) मगर....झगड़ा....फिर भी झगड़ा है परसादी...।

**परसादी** : बड़े मालिक...! वो लोग झगड़ा नहीं करते।

**कुंजबिहारी** : तब....?

**परसादी** : चौंचें लड़ाते हैं....मालिक...सिर्फ...चौंचें।

**प्रमोद** : चौंचें तो मुर्गे... लड़ाते हैं। [ सब लोग प्रमोद की बात सुनकर हँस देते है। परसादी पास जाकर कहता है ]

**परसादी** : एक बात बताऊँ.. मालिक..?

**कुंजबिहारी** : बताओ...।

**परसादी** : (इधर-उधर देखकर) कभी जब बहूरानी का दिमाग ज्यादा बिगड़ जाता है तो विवेक बाबू ने उनके दिमाग का पारा उतारने का एक नुस्खा निकाल रखा है।

**कुंजबिहारी** : (विस्मय से) अच्छा..।

**परसादी** : विवेक भैया को ऐसा मन्तर याद है कि उसके पढ़ते ही बहूरानी का सारा नसा छू मन्तर हो जाता है।

**कुंजबिहारी** : क्या मंत्र है...?

**परसादी** : (कान के पास जाकर कहता है) विवेक बाबू ने धमकी दी कि मैं तो चला अपने पिताजी के घर कि बहूरानी का पारा उतरा।

**कुंजबिहारी** : (हँसते हुए) अच्छा...।

**परसादी** : अजी पिताजी के धर जाने का नाम सुनते ही बहूरानी को करंट सा मार जाता है (प्रसन्न होकर) बड़े मालिक...। बड़ा मजा आता है। भैया कहते है - मै जा रहा हूँ और बहूजी मनाना शुरू

कर देती हैं कि वहां मत जाओ। (सब लोग हंसते है। कुंजबिहारी घड़ी देखकर चौंकता है)

**कुंजबिहारी** : बात ही बातों में सुनीता के स्कूल की छुट्टी का समय हो गया। चलो प्रमोद, रिक्शा पकड़ें और चलें। (कह कर प्रमोद के साथ जाता है। परसादी कुछ पल बाद अन्दर जाता है। वहां से खाली प्लेट लाकर सेन्टर टेबिल पर रखता है। एक जग में पानी और खाली गिलास लाता है। पीछेवाली टेबिल पर रखता है। बाहर से विवेक आता है। कोट उतार कर सोफे की बैक पर डालता है। टाई खींचकर ढीली करता है। आयु लगभग २८-३० वर्ष है। स्वस्थ तथा सुन्दर है। सेन्टर टेबिल पर रखी प्लेट तथा चम्मच को देखकर चम्मच टेबिल पर खटखटाकर बोलता है)

**विवेक** : परसादी... काका... । (परसादी विवेक को देखते ही अन्दर जा चुका होता है। अन्दर से बिस्कुट और चाय लेकर आता हुआ)

**परसादी** : हुकम... मैया जी... ? ये आपका नाश्ता। (सामान टेबिल पर रखता है )

**विवेक** : आफिस से आया हूं। खाली चाय-नाश्ते से क्या होगा... ?

**परसादी** : बहूरानी आते ही खाना बनायेंगी। आटा मैं पिसा लाया हूं।

**विवेक** : कहाँ गयी है... ?

**परसादी** : पता नहीं मैया जी....।

**विवेक** : कितनी देर में आयेगी...?

**परसादी** : (हँसते हुए) मैया जी...। बहूरानी न तो मुझे ये बताकर गयीं कि कहाँ जा रही हैं और न यह कह कर गयीं कि कितनी देर में लौटेंगी...?

**विवेक** : (खीजकर) ठीक है....। चाहे जब आना, चाहे जब जाना। न किसी से पूछने की आवश्यकता है और न किसी को बताने की....।

**परसादी** : (व्यंग्य से) आजकल विवेक भैया...। (लजाता है) खैर, छोड़ो।

**विवेक** : क्या कहना चाहते हो...? (थरमस से चाय प्याले में डालता है)

**परसादी** : कुछ.... नहीं.....।

**विवेक** : कुछ कह तो रहे थे... । कहो ना....।

**परसादी** : (संकोच से लजाते हुए) अजी, ऐसे ही एक पुराना गीत याद आ गया।

**विवेक** : पुराना गीत...? (बिस्कुट खाते हुए)

**परसादी** : अजी.... एक पुराना गंवारू गीत है।

**विवेक** : कौन सा...?

**परसादी** : ऐसे ही है... विवेक भैया....। जाने दो।

**विवेक** : बताओ....। क्या है...?
(चाय का घूँट लेता जाता है)

**परसादी** : (विवेक की ओर देखकर गाने को होता है कि लजा जाता है)

**विवेक** : सुनाओ ना...। शर्म की क्या बात है ?

**परसादी** : बचपन में सुना था।

**विवेक** : मगर सुनाओ तो सही....। (दूसरा बिस्कुट खाता है)

**परसादी** : (लजाते हुए) सुनाऊँ...। हँसी मत उड़ाना.... भैया..।

**विवेक** : नहीं ! हंसी नहीं उड़ायेंगे। सुनाओ।

**परसादी** : जाने क्यों शर्म आती है....।

**विवेक** : मुँह पर आयी बात कभी रोकनी नहीं चाहिए।
सुनाओ... सुनाओ...।

**परसादी** : देखो.. हँसना मत...।

**विवेक** : (खीजकर) अरे... तुम.. सुनाओ भी...। (चाय पीता जाता है)

**परसादी** : (कान पर हाथ रखकर झूमता हुआ) अजी, कान दबाकर रहना लोगो। घर में राज लुगाई का...।

**विवेक** : (हंसते हुए गीत की पंक्ति दोहराता है) घर में राज लुगाई का..। बात तो किसी ने बिल्कुल ठीक कही है काका ! आजकल घरों में स्त्रियों का शासन है। कल तक जो स्त्री पाँव की जूती समझी जाती थी, आज समाज में उसको आदर की दृष्टि से देखा जाता है।

**परसादी** : विवेक बाबू...! जाने कौन से लोग थे जिन्होंने औरत को पाँव की जूती समझ लिया, वर्ना हम तो पुराने लोंगों से ये ही सुनते आए हैं कि औरत घर की लक्ष्मी होती है। अरे, घर किसका-के घरवाली का !

**विवेक** : पर अपने भाग्य में काका लक्ष्मी नहीं, भवानी आयी है। सुबह से शाम तक उसके तेवर तने रहते हैं।

**परसादी** : (परिहास के स्वर में) आपभी तो कहने में नहीं चूकते विवेक बाबू।

**विवेक** : लेकिन जब मैं उन्हें छोड़ कर अपने घर जाने की बात कहता हूँ....।

**परसादी** : (बात काट कर ) तब वह घबरा जाती हैं। सारी लड़ाई भूल जाती हैं। (भाव बदल कर )

कुछ भी हो विवेक बाबू....! वह आपसे प्रेम बहुत करती हैं (परसादी कहते-कहते स्वयं भावुक हो जाता है)

विवेक भैया... क्या बताऊँ...। जब मेरे संतोस की माँ जिन्दा थी, घर का सारा काम वहीं देखती थी। मैं तो निसफिकर होकर चैन से घूमता फिरता था [ रूआसा होकर ] पर... पर.... जब से वो... गई... मेरे घर का सत्यानास हो गया.....।

**ज्योति** : (बाहर की ओर से आती आवाज ) काका....। [ ज्योति मंच पर आकर ] आज शायद फिर तुम्हें अपनी घरवाली की याद आ गई...? (हाथ में थैला लिए आती है। परसादी अंगोछे के कोने

से अपने आँसू पौंछ रहा है। विवेक घूर कर ज्योति को देखता है। ज्योति भी देखती है। अपेक्षा का भाव दिखाकर आगे बढ़ जाती है। अन्दर जाने को है कि विवेक खड़ा होकर टोकता है)

**विवेक** : तो आ गयी.... आप....?

**ज्योति** : जिस दिन चली जाऊँगी... परसादी काका की तरह सिर पकड़ कर रोओगे। ( परसादी को सम्बोधित कर ) काका...! सामने की दूकान से दूध ले आओ। पैसे मैं दे आई हूँ।

**परसादी** : अच्छा.... बहू रानी.... ! ( कहकर जाता है। ज्योति थैला रखकर साड़ी संभालती हुई, विवेक के पास जाकर )

**ज्योति** : आदमी की कदर उसके जाने के बाद पता लगती है।

**विवेक** : पर तुम तो औरत हो। [आगे बढ़ कर] आदमी तो हम हैं।

**ज्योति** : तो औरत बन जाओ। मुझे देखकर जलते क्यों हो....?

**विवेक** : जल तो रहा है अन्दर रसोई का चूल्हा – आपके इन्तजार में। और हम भूख के मारे सूख-सूख कर हाथी हो रहे हैं.... आपके इन्तजार में।

**ज्योति** : टिफिन रसोई में है। मैं क्या साथ बाँधकर ले गई थी ? लेकर खा लेते, किसने रोका था...? सुबह का बचा कुछ खाना तो था ही।

**विवेक** : (पास जाकर) जब तुम अस्पताल में भरती रहती हो, तब तो ठण्डे भोजन से ही सिर फोड़ना पड़ता है। लेकिन जब घर में हो तब तो कम से कम गरम...।

**ज्योति** : जब गरम बनाती हूँ तो छोड़कर चले जाते हैं। (मुँह बनाकर) मुझे दफ्तर को देर हो रही है। अब लौटकर खाऊँगा।

**विवेक** : तो जल्दी क्यों नहीं बनातीं, क्यों देर कर लेती हो...?

**ज्योति** : तुम्हारे बच्चों की सेवा जो करनी पड़ती है। सुबह उठते ही

चाय बनाओ, बच्चों को स्कूल के लिये तैयार करो, उनका नाश्ता बनाओ। आखिर दो ही हाथ तो हैं। किस-किस का काम करूँ...?

**विवेक** : बच्चे तो गये अपने बाबा के पास, रह गये हम और तुम। अगर इतने पर भी काम न निपटे तो चतुर्भुजी हो जाओ, अष्टभुजी हो जाओ।

**परसादी** : (दूध लेकर प्रवेश करते हुए) अष्टभुजी तो विवेक बाबू देवी मैया होती है। (बढ़कर थैला उठाता है और बोलता रहता है) मेरे संतोस की माँ रोज सुबह उठते ही सबसे पहले अष्टभुजी देवी के दर्शनों को जाया करती थी। कहती थी -- हे देवी मैया ! मेरे उनकी आठों भुजाओं से रच्छा करना।

**ज्योति** : और ये चाहते हैं कि अगर भगवान मुझे आठ भुजाएँ दे दें, तो मैं आठों भुजाओं से दिन-रात इनकी ही सेवा किया करूँ।

**परसादी** : ( सामान उठाता है ) बहूरानी... ! तुम तो समझदार हो। आपस में झगड़ा नहीं किया करते। कोई सुनेगा तो क्या कहेगा।

**विवेक** : (क्रोध में तमतमाकर) बड़ी सावित्री जैसी भावना रखती हो ना पति के लिए...? अपने घर से आदर्श पत्नी के गुणों की शिक्षा लेकर आयी हो ? ( परसादी से ) परसादी काका... !

**परसादी** : हाँ....मैया जी....?

**विवेक** : तुम इतने दिनों से अपनी बहू जी के व्यवहार को देख रहे हो। तुम्हीं बताओ...। आज तक तुम्हें एक भी दिन ऐसा लगा कि बहू जी ने भारतीय आदर्श नारी की भाँति मेरे साथ व्यवहार किया हो... ?

**परसादी** : ( समझाते हुए ) विवेक मैया... ।

**विवेक** : ( परसादी की ओर देखता है )

**परसादी** : एक बात कहूँ...?

**विवेक** : कहो... ।

**परसादी** : अगर दोनों एक जैसे हो गये तो औरत और मर्द में क्या फर्क रह जायेगा...? आप आदमी हैं....। आपको ही सोचना चाहिए....। मैं घी ले आऊँ । आप आराम कीजिये। (कह कर बाहर चला जाता है )

**विवेक** : तुमने कभी सोचा ही नहीं कि पति के प्रति एक नारी का क्या कर्तव्य होना चाहिए ?

**ज्योति** : आज मुझे नारी का कर्तव्य सिखा रहे हो। जब भाँवरें पड़ी थीं, तब गुमसुम बैठे थे। लगता था, हँसना-गाना तो दूर, बोलना भी नहीं जानते। अब.... अब मेरे माता-पिता की शिक्षा को भी कोसने लगे....।

**विवेक** : क्या मैं झूँठ कहता हूँ... ?

**ज्योति** : कहने पर कौन सा करफ्यू लगा है। बी. ए. की डिग्री कमरे में लटक रही है। जाकर उसे पढ़ लीजिए... कि मैंने शिक्षा ली या नहीं...?

**विवेक** : मैं भारतीय नारी के आदर्श की शिक्षा की बात कह रहा हूँ। वह कालेजों में नहीं दी जाती। बी. ए. के पाठ्यक्रम में उसका कोई विषय भी नहीं है। गृहिणी के गुणों की शिक्षा लड़की को उसके घर में मिलती है।

**ज्योति** : मेरे माँ-बाप के घर में उसकी कोई पुस्तक नहीं थी। तुम्हारे पिता के घर में कोई 'मैनुअल' हो तो, लादो। पढ़ लूँगी..।

**विवेक** : एक गृहिणी को किस प्रकार अपना घर सम्हालना चाहिए...? अपने पति और परिवारी जनों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह बातें किसी 'मैनुअल' में नहीं लिखी होती। कन्या यह पाठ अपने परिवार की पाठशाला में अपने माता-पिता से पढ़ती है।

**ज्योति** : मेरे परिवारवालों में इतनी बुद्धि नहीं थी कि वह यह पहचान

पाते कि हम जिसे अपनी बेटी ब्याह रहे हैं, वह बुद्धि और ज्ञान का महासागर है।

**विवेक** : ( भड़क कर ) ज्योति... ! तुम फिर आग में घी डाल रही हो।

**ज्योति** : बुद्धिहीन हूँ ना...। मुझे आग में घी नहीं, घी में आग डालनी चाहिए थी।

**विवेक** : (कुपित होकर) तुम्हारे मुँह का टेपरिकार्डर बन्द नहीं हो सकता....?

**ज्योति** : और तुम्हारी छवि दिखाने वाला टेलीविजन का ये प्रोग्राम भी रुक नहीं सकता ?

**विवेक** : बकवास बन्द करो।

( क्रोध से भड़क कर खड़ा हो जाता है। कुछ पल कमरे में इधर से उधर घूमता है। बीच-बीच में ज्योति की ओर कुपित दृष्टि से देखता है। ज्योति मन ही मन मुस्काती है। अपनी साड़ी के फोल्ड ठीक करती हुई अन्दर जाती है। जाते-जाते पलट कर विवेक को देखती जाती है। द्वार पर कोई घंटी बजाता है। अन्दर जाती-जाती ज्योति घण्टी की आवाज सुनकर ठिठक कर रुकती है। विवेक उसकी ओर देखकर कहता है )

**विवेक** : जरा, देखो। दरवाजे पर कौन है...?

(ज्योति उपेक्षा के भाव से गर्दन को झटका देकर अन्दर की ओर बढ़ती हुई कहती है)

**ज्योति** : तुम क्या रोटी बेल रहे हो...? खुद उठकर देखलो...।

(अन्दर चली जाती है। विवेक गुस्से से हाथ सिर पर मारता है। दाँत भींचकर ज्योति की ओर घूरता है। पश्चात् उठकर द्वार पर जाता है। बाहर से एक लड़का आता है। आयु लगभग १८-२० वर्ष है। हाथ में पुस्तक तथा नोट बुक है। एक हाथ में साईकिल की चाबी है। विवेक से पूछता है)

**मनोज** : विवेक कुमार पारीख आपका ही नाम है ?

**विवेक** : हाँ...बेटे...।

**मनोज** : (हाथ जोड़कर) नमस्ते।

**विवेक** : नमस्ते !

**मनोज** : हमारे गुरुजी ने ये पत्र दिया है।

**विवेक** : किसका है...?

**मनोज** : ये मैं नहीं जानता। वह स्वयं ही देने आते पर आज उन्हें एक गोष्ठी में जाना था। मेरा इधर रास्ता था। मुझसे बोले, तुम इस पते पर यह पत्र देते जाना।

(जेब से पत्र निकाल कर देता है। विवेक पत्र के ऊपर लिखे नाम को देखकर प्रसन्न होता है )

**विवेक** : मेरे चचेरे भाई ने भेजा है। पर यह पत्र तुम्हारे मास्टरजी के पास कैसे आया...? वह तो जोधपुर रहता है। पत्र दिल्ली से आया है।

**मनोज** : (सोचकर) दिल्ली से...?

**विवेक** : हाँ...।

**मनोज** : समझ गया। गुरुजी दिल्ली एक प्रशिक्षण-शिविर में गये थे। आज प्रातः ही वहाँ से लौटे है। प्रातः ही क्या, कालेज के समय पर। वह स्टेशन से सामान लेकर सीधे कालेज आये थे। रिक्शे में सामान था। वह उन्होंने एक सेवक के द्वारा घर भिजवाया था। मैं भी उस समय द्वार पर ही था। मैंने कहा कि मैं घर पहुँचा दूँ तो हँसकर बोले--बेटे ! तुम मेरे छात्र हो, सेवक नहीं।

**विवेक** : बहुत अच्छे हैं तुम्हारे मास्टर जी...।

**मनोज** : अपने छात्रों को बहुत प्यार करते हैं। छुट्टी होने पर मैंने ही उनसे कहा कि आप एक ओर हमें पुत्रवत् मानते हैं, दूसरी

ओर हमें अपनी सेवा का अवसर नहीं देते। तब मुस्करा कर बोले—तो लो मेरे पास एक आवश्यक पत्र है। दिल्ली प्रशिक्षण में गया था, वहाँ से एक साथी ने भिजवाया है। मुझे गोष्ठी में विलम्ब हो सकता है। तुम साइकिल से जाओगे। तुम्हारे मोहल्ले में यह सज्जन रहते हैं, तुम यह पत्र उनके पास पहुँचा देना।

**विवेक** : (कन्धे पर स्नेह से हाथ रखकर) आओ... बैठो... ! (आगे बढ़ते हुए) क्या नाम है तुम्हारा....?

**मनोज** : मनोज...। (दोनों बैठ जांते हैं )

**विवेक** : बहुत सन्दर नाम है। जानते हो मनोज किसे कहते हैं ?

**मनोज** : कामदेव का पर्यायवाची शब्द है।

**विवेक** : कामदेव की पत्नी का नाम जानते हो बेटे...?

**मनोज** : जी....! रति...।

**विवेक** : रति....। [ हँसते हुए ] बहुत सुन्दर...। बहुत सुन्दर...। बेटे ! रति शब्द तो किसी और प्रसंग में भी हमने पढ़ा है।

**मनोज** : जी...! श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति होता है।

**विवेक** : बहुत अच्छे...। भाई कमाल कर दिया। कौन सी कक्षा में पढ़ते हो...?

**मनोज** : बी. ए. प्रथम वर्ष में।

**विवेक** : तुम्हारे पिताजी क्या करते हैं बेटे...?

**मनोज** : वह राजकीय परिवहन निगम में बस-चालक हैं।

**विवेक** : मुझे विस्मय है बेटे...! बस-चालक होते हुए उन्होंने तुम्हारे संस्कार इतने सुन्दर बना दिये। कितनी सुन्दर भाषा बोलते हो। कितना अच्छा ज्ञान है तुम्हारा।

**मनोज** : क्षमा करें श्रीमान् ! मुझे मेरे माता-पिता का तो केवल आशीर्वाद

ही प्राप्त है। शिक्षा और ज्ञान तो गुरुजी देते हैं। मेरे पिताजी तो केवल ८ कक्षा तक पढ़े हैं।

**विवेक** : तो तुम माता-पिता के महत्व को नहीं मानते...?

**मनोज** : यह कैसे हो सकता है ? मेरे पिताजी स्वयं कहा करते हैं कि माता-पिता तो बच्चे को जन्म देते हैं, उसे योग्य बनाना शिक्षक का कार्य है।

**विवेक** : सत्य कहते हो। संसार में अनगिनत माँ-बाप नित्य न जाने कितने बच्चों को जन्म देते हैं। उनमें से जो बच्चे किसी अच्छे शिक्षकका का सम्पर्क पा जाते हैं उनका व्यक्तित्व कुन्दन की भांति चमक उठता है। शिक्षा मन्दाकिनी की विमल शुभ्रधार है। शिक्षक भगीरथ है जो अपने अनवरत प्रयास से उसकी शुचिता को अक्षुण्ण बनाये हुए है और उसे लोक कल्याण के लिए प्रवाहित करता रहता है। शिक्षा की पीयूष-रूपी इस शाश्वत धारा में निष्ठा और आस्था से जो भी स्नात हुआ, उसका व्यक्तित्व समाज और देश के लिए प्रकाश का पुंज बनकर अपने आलोक की रश्मियाँ विकीर्ण करता रहा है।

**मनोज** : [विस्मय से] आप भी हमारे गुरुजी की भाँति बहुत आलंकारिक भाषा बोलते हैं।

**विवेक** : [हँसकर] ये.... मेरे....नहीं.....मेरे पिताजी के शब्द थे बेटे... ! कभी सुने थे [ प्रसंग बदल कर ] अच्छा एक बात बताओ.... !

**मनोज** : जी.....?

**विवेक** : तुम्हारे पिताजी बस-चालक हैं।

**मनोज** : जी।

**विवेक** : तुम क्या बनना चाहते हो....?

**मनोज** : अभी मैंने इस बात पर विचार नहीं किया।

**विवेक** : क्यों....?

**मनोज** : कभी गुरुजी से सुना था। एक समय में एक ही काम करना चाहिए। मेरा काम अभी पढ़ना है। बस उतना ही करता हूँ।

**विवेक** : केवल पढ़ने तक सीमित रहोगे तो आज के वैज्ञानिक युग की प्रगति के बहुत से अंगों से अनभिज्ञ रह जाओगे। आज के छात्र को जागरुक होना चाहिए। वैज्ञानिक युग की नवोन्मेषी चेतना ने आधुनिक-बोध के धरातल बहुत परिवर्तित कर दिये हैं। युगीन परिवेश की प्रबुद्ध चेतना आज एक बिन्दु तक सीमित नहीं, उसका विश्वव्यापी विस्तार हो गया है। भौतिकवाद ने हमें नवीन जीवन दृष्टि दी है, जीवन के नये प्रतिमान और वैचारिक चेतना के नये संदर्भ सिखाये हैं। युग की आधुनिक दृष्टि से आज जीवन के मूल्य परिवर्तित हो गये हैं।

**मनोज** : मैं जानता हूँ।

**विवेक** : अभी तो कहते थे कि मेरा काम अभी केवल पढ़ना है।

**मनोज** : जी... ! इन बातों का ज्ञान भी पत्र-पत्रिकाओं में पढ़कर ही करता हूँ।

**विवेक** : यह नहीं सोचते कि तुम्हें क्या बनना है...?

**मनोज** : मैं केवल यह सोचता हूँ कि मुझे क्या करना है ? कुछ करने के बाद कुछ बनना तो निश्चित ही है। कुछ बनने का विचार यदि छात्र जीवन में ही पल्लवित होने लगता है, तो वह हमारे सीमित, लघु और पराश्रित व्यक्तित्व में एक विघटन को जन्म देता है। हमारा व्यक्तित्व 'करने' और 'बनने' के द्वन्द्व में विभाजित हो जाता है। करना हमारा मूल प्रतिपाद्य होता है। उसी के लिए अध्ययन में सन्नद्ध होते हैं। ऐसे समय में बनने का विचार हमें बाहय-जगत के नाना-रूपों की ओर आकर्षित करता है। हमारा मानस कुछ बनने के दिवास्वप्न देखने लगता है। बाहर के आकर्षण हमें शनैः शनैः उद्‌भ्रान्त और चंचल बना देते हैं। चंचलता से हमारी एकाग्रता नष्ट होती है और हम बनने

की अपेक्षा अन्तर-जगत में बिखर जाते हैं।

**विवेक** : वाह....वाह....!! भाई, मनोज बेटे...। तुमने तो कमाल कर दिया। इतने गहरे विचार, इतनी अच्छी...।

**मनोज** : जी...। ये शब्द मेरे नहीं। कभी गुरुजी ने कहे थे। मैने याद कर लिए। [ उठकर खड़ा होता है। हाथ जोड़कर ] अब मुझे आज्ञा दीजिए। मैं घर जाऊँ।

[विवेक भी उठकर खड़ा होता है। स्नेह से उसे देखता है। कन्धे पर हाथ रखकर।]

**विवेक** : मनोज....!

**मनोज** : जी... ...।

**विवेक** : तुमसे मिलकर बहुत प्रसन्नता हुई। मैने तुमसे इसलिए पूछा कि तुम क्या बनना चाहते हो कि तुम्हारे पिताजी बस-चालक ही बनकर रह गये। आज के समाज में यह कहते हुए भी तो संकोच होता है कि...।

**मनोज** : मुझे कोई संकोच नहीं होता श्रीमान् ....! मेरी दृष्टि में काम केवल काम है। काम कभी छोटा-बड़ा नहीं होता। वह कक्षा ८ तक पढ़े थे। उसके अनुसार उन्हें काम मिल गया।

**विवेक** : फिर भी बेटे...। आज जमाना कुछ और तरह का है।

**मनोज** : मैं नहीं मानता। क्या सूरज आधुनिक काल में पूर्व को त्याग कर पश्चिम से निकलने लगा है ? क्या हिमालय अब उत्तर को छोड़कर दक्षिण में पहुंच गया है ? क्या सागर का पानी मीठा हो गया है ? नहीं...। सब कुछ वही है, वैसा ही है। मनुष्य की अपनी दृष्टि भटक गयी है। वह जाने किस शब्द की क्या परिभाषा करने लगा है ?

**विवेक** : [कुछ संकोच करते हुए] मेरी बात का बुरा मत मानना बेटे...। मैंने... तो... सोचा था कि तुम अन्य बच्चों की भांति मुझसे

कहोगे कि मैं यह बनना चाहता हूँ, वह बनना चाहता हूँ.....।

**मनोज** : बुरा मानने की इसमें क्या बात है..... श्रीमान....। आपने तो ठीक ही पूछा। मैंने भी ठीक ही उत्तर दिया कि बनना अपने हाथ में नहीं। यदि बनना अपने अधिकार में है तो संसार का प्रत्येक प्राणी बड़े से बड़ा पद पाने को इच्छुक है, बड़े से बड़ा धनवान बनना चाहता है; किन्तु... मैं... आपसे ही पूछता हूँ...। क्या यह सम्भव है...? प्रत्येक व्यक्ति स्वेच्छा या प्रयत्न से मनोनुकूल स्थान प्राप्त कर सकता है ?

**विवेक** : सच कहते हो। मैं आई. ए. एस. बनना चाहता था। बहुत चेष्टा की। नहीं बन सका। [ कुछ सोचकर ] बेटे.... तुम.... मुझे श्रीमान न कहकर चाचा कहो। अच्छा लगेगा।

**मनोज** : [कुछ पल विवेक की ओर देखकर, मुस्कराता हुआ] अब देखिये चाचाजी... हमारे स्कूल के सामने एक बहुत बड़े नेता रहते है। एक बार मंत्री भी बन चुके है। अब १० वर्ष से लाखों रूपये व्यय करके मंत्री बनना तो दूर विधानसभा के सदस्य भी नहीं बन पाते। मैंने इसलिए कहा कि बनना अपने हाथ में नहीं। अपने हाथ में प्रयत्न करना है। यों जीवन में मेरा दृष्टिकोण निराशावादी नहीं; किन्तु मैं अपने मस्तिष्क को मृग-तृष्णा में नही फँसने देता। मेरा पहला लक्ष्य शिक्षा प्राप्त करना है। मेरी जैसी शिक्षा होगी, जैसी योग्यता होगी, उसके अनुसार जो भी बनना होगा मैं अवश्य बनूंगा ही। अच्छा चाचा जी....।

**विवेक** : [प्यार से देखकर] बुरा न मानो तो एक बात पूछूं...?

**मनोज** : अवश्य.....।

**विवेक** : अभी तुम बी. ए. कर रहे हो, कल एम. ए. करोगे....। अगर तुम्हारे पिताजी पढ़ाई का व्यय नहीं उठा सके तो...।

**मनोज** : हाईस्कूल के बाद से अपनी पढ़ाई का व्यय मैं स्वयं ही उठा रहा

हूँ। हम तीन भाई-बहिन हैं। पिताजी की आय से आज की मंहगाई में इतने सदस्यों का काम कठिनता से चलता है।

**विवेक** : तो... तो... फिर कैसे करते हो अपनी पढ़ाई....?

**मनोज** : आवश्यकता के अनुसार कुछ छोटे ट्यूशन कर लेता हूँ, काम चल जाता है।

**विवेक** : ट्यूशन...।

**मनोज** : पढ़ना भी और पढ़ाना भी। सम्बन्ध केवल शिक्षा से है।

**विवेक** : [कुछ सोचकर] सुनो...।

**मनोज** : जी.....।

**विवेक** : मेरा लड़का छठी कक्षा में है, लड़की चौथी में। उन का ट्यूशन करोगे....?

**मनोज** : आप मुझे लज्जित कर रहे हैं।

**विवेक** : मैं गम्भीरता से कह रहा हूँ....बेटे...। मैं.... मैं... ट्यूटर की तलाश में हूं।

**मनोज** : अवश्य सेवा करूंगा...।

**विवेक** : तो सोमवार से आ जाओ। शाम ५ बजे के बाद कभी भी।

**मनोज** : समय में कल बता जाऊँगा।

**विवेक** : फीस.... क्या लोगे....?

**मनोज** : जो आप उचित समझें। [ मनोज हाथ जोड़कर नमस्ते करके जाता है। विवेक टेबिल पर रखे पत्र को खोलता हुआ बड़बड़ाता है ]

**विवेक** : ये वर्षो बाद तुझे मेरी याद कैसे आ गई....? क्या लिखा है मेरे भाई ?

[पत्र खोलकर पढ़ता है। प्रसन्नता से ज्योति को पुकारता है ]

**विवेक** : ज्योति....! ज्योति ! जल्दी आओ...। शुभ समाचार...।

**ज्योति** : [अन्दर से ही] आती हूँ...।

[ज्योति आती है। कपड़े से हाथ पौंछ रही है। विवेक के पास बैठकर ]

ज्योति : किससे बातें कर रहे थे ?

विवेक : मनोज से, बी.ए. का एक छात्र है। अपने मोहल्ले में ही कहीं रहता है। बहुत अच्छा लड़का है। मैंने उसे प्रमोद और सुनीता को पढ़ाने के लिए तय कर दिया है। वही ये पत्र लेकर आया था। [पत्र दिखाता है]

ज्योति : किसका पत्र है....?

विवेक : पत्र के आगमन से मन को प्रसन्नता होती है ना....?

ज्योति : पहेलियाँ मत बुझाओ। बताओ ना....। भाईसाहब का पत्र आने वाला था। उन्हीं का है....?

विवेक : भाई साहब का नहीं, भाई का। पहले जल्दी से चाय पिलाओ। तब तुम्हें खुशी की खबर सुनाऊंगा।

ज्योति : पहले खबर सुनाओ। चाय भी लाये देती हूँ।

विवेक : मनमोहन का पत्र है।

ज्योति : [ बनकर ] मनमोहन...?

विवेक : मेरे चाचाजी का लड़का। जोधपुर में टीचर है ना...। दिल्ली एक ट्रेनिंग में आया था।

ज्योति : फिर ?

विवेक : फिर क्या....। लिखा है, ट्रेनिंग समाप्त हो गयी। कल एक हफ्ते के लिए यहां आ रहा है।

ज्योति : [विस्मय से] यहां.... या आपके पिताजी के घर....?

विवेक : वह मेरे बचपन का मित्र है। पिताजी के पास क्या करेगा ? यहां आ रहा है । मेरे... पास...।

ज्योति : वह भी एक हफ्ते के लिए...?

विवेक : घूमेगा, फिरेगा, तफरी करेगा...।

**ज्योति** : और मैं महरी बनकर उसके और तुम्हारे बर्तन साफ किया करूंगी। चाय-नाश्ते का इन्तजाम किया करूंगी।

**विवेक** : बिल्कुल ठीक....। लाओ... अब जल्दी चाय पिलाओ।

[ज्योति यह सुनकर सोफे पर निढाल होती जाती है। हाथ के कपड़े को सिर पर पट्टी की तरह बाँधने लगती है। विवेक देखता है ]

**विवेक** : क्या हुआ ...?

**ज्योति** : तुम्हें क्या पता.... मेरा क्या हाल है....?

**विवेक** : अभी तो तुम ठीक थी।

**ज्योति** : तुम्हारा काम कर देती हूँ। इससे तुम्हें ठीक दिखाई देती हूँ। मेरे ऊपर जो बीतती है, मैं ही जानती हूँ।

**विवेक** : तुम जल्दी चाय लाओ।

**ज्योति** : मेरी तबियत ठीक नहीं है। खुद जाकर ले आओ। और एक कप मेरे लिए भी बना लाना।

[ पांव उठाकर सोफे पर लेट जाती है। विवेक क्रोध से भड़क कर खड़ा हो जाता है। ज्योति को घूरकर ]

**ज्योति** : घूर-घूर कर क्या देख रहे हो ? अपने भाई को अपने पिताजी के यहाँ ठहरा देना।

[बाहर से परसादी काका आता है। आकर ज्योति से कहता है ]

**परसादी** : बहूरानी...।

**ज्योति** : क्या है... ?

**परसादी** : वो... बगलवालों के यहां तुम्हारा टेलीफोन आया है।

[ ज्योति लपक कर बैठती है ]

**ज्योति** : मेरा फोन....?

**विवेक** : तुम लेटो। मैं सुनकर आता हूँ...।

**ज्योति** : [ खड़ी होती है ] नहीं... नही... । मैं ही जाती हूँ।

**विवेक** : पर तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है।

**ज्योति** : [ कड़क कर ] तो क्या चक्कर खाकर मैं फोन के माउथपीस में गिर जाऊँगी ? [तेजी से बाहर जाती है। परसादी और विवेक देखते रह जाते हैं।]

**विवेक** : परसादी काका...।

**परसादी** : हां... भैया जी...।

**विवेक** : एक गिलास पानी पिलादो।

**परसादी** : अभी लाया...। [परसादी पानी लेने अन्दर जाता है। विवेक ऊपर के बटन खोलता है। परसादी पानी लाता है। विवेक पीता है]

**विवेक** : काका...।

**परसादी** : जी...।

**विवेक** : अभी एक लड़का आया था। बड़े कमाल का था।

**परसादी** : वो... वो... सूरज ड्राइवर का ?

**विवेक** : हां....। उसका पिता ड्राइवर ही है।

**परसादी** : खूब जानता हूं... भैया.... जी।

**विवेक** : तुम कैसे जानते हो...?

**परसादी** : मैं जब घी लेने जा रहा था। वह अपने घर के बाहर साइकिल खड़ी कर रहा था। पड़ौसी से आपका पता पूछ रहा था। वो आगे गली में ही तो उसके बाप का घर है।

**विवेक** : मगर... मगर... तुम उसके पिता को कैसे जानते हो....?

**परसादी** : पहले मेरा घर उसके पड़ोस में ही था। इस बच्चे को मैंने गोद में खिलाया है। छोटा था, तब हम उसे छुन्ना कहा करते थे....।

**विवेक** : अब उसका नाम मनोज है। बी.ए. में पढ़ता है। [कुछ विचार मग्न होकर ] काका....। छात्र हो तो ऐसा...। गंदगी में

रहकर भी कमल की तरह साफ-स्वच्छ है। उसकी बातें सुनने लायक थीं। छात्र-जीवन का आदर्श उसके चरित्र में दर्पण की भांति दमकता था।

**परसादी** : [ प्रसन्न होकर ] मेरी गोद का खिलाया हुआ है।

**विवेक** : उसकी बातें सुनकर लगा कि वह छात्र नहीं गुणों का साकार रूप है।

**परसादी** : [और प्रसन्न होकर] मेरे.... संतोस की.... मां ने भी उसे खिलाया था।

**विवेक** : [विवेक घूर कर परसादी को देखता है। कुछ गम्भीर होकर] अब एक बात सुनो...।

**परसादी** : कहो... भैया....।

**विवेक** : कल शाम मेरा भाई मनमोहन दिल्ली से आ रहा है। वैसे तो वह जोधपुर में नौकरी करता है। दिल्ली किसी ट्रेनिंग में आया हुआ था। वहा से वह एक सप्ताह के लिए यहाँ आ रहा है।

**परसादी** : बड़ी खुशी की बात है।

**विवेक** : मगर... तुम्हारी बहूजी को तो यह सुनते ही बुखार आगया।

**परसादी** : ( चुप रहता है।)

**विवेक** : सोचता हूँ... उसके ठहरने का इन्तजाम पिताजी के पास कर दूँ। [तभी अन्दर से ज्योति प्रसन्नमुख उछलती हुई आती है। दोनों उसकी ओर देखते हैं। उसके व्यवहार में कुछ उतावलापन है। परसादी से कहते-कहते विवेक की ओर देखती है। कुछ संयत होकर बोलती है ]

**ज्योति** : परसादी... काका...।

**परसादी** : हुकम बहूरानी।

**ज्योति** : फौरन बाजार जाओ....। दो किलो फल...., एक किलो मिठाई, एक किलो नमकीन, डबलरोटी, मक्खन और कुछ मेवा लाकर रखो। अपने घर में मेहमान आरहे हैं।

**परसादी** : [ विवेक की ओर देखकर मुस्कराता हुआ। ] कितनी समझदार हैं बहूरानी। मेहमान के आने से पहले ही घर में स्वागत की तैयारी करने लगी।

**विवेक** : बात तो सचमुच समझदारी की है।

**ज्योति** : और देखो...।

**परसादी** : जी.....?

**ज्योति** : [ कुछ सोचकर ] तुम नहीं। यह काम यह करेंगे। [विवेक से] सुनो... जी...!

**विवेक** : कहो जी...?

**ज्योति** : आप दरवाजे और खिड़कियों के पर्दे बदल ड़ालिए। ये गंदे हो गये हैं।

**विवेक** : [प्रसन्नता से] ओह... श्योर... अवश्य.... अवश्य....।

**ज्योति** : क्या एक दिन में इस कमरे में नया रंग नहीं हो सकता....?

**विवेक** : [ सोचकर ] नया रंग....। एक दिन में....। तुम्हारा मतलब डिस्टैम्पर....?

**ज्योति** : हां...। डिस्टैम्पर....।

**विवेक** : हो.... जाता तो मजा आ जाता....। मगर... एक दिन में नहीं हो सकता। उस गधे को आना ही था तो चार-छः दिन पहले सूचना देनी चाहिए थी। आने दो उसे। अबकी बार कैसी डाट लगाता हूँ....।

**ज्योति** : [ चौंककर ] क्या....? उन्हें डाट लगाओगे....? तुमने उन्हें गधा कहा....?

**विवेक** : नहीं तो क्या....? अब एक दिन में ही उस बेवफूक के लिए क्या-क्या तैयारी करें...?

**ज्योति** : [ रोती हुई ] काका...। काका...। समझा लो इन्हें...। ये.. .ये.. मेरे भाईसाहब को गालियाँ दे रहे हैं....।

**विवेक** : [ चौंककर ] ज्योति...। तुम... तुम...। [प्रसन्न होकर] तुमने मेरे भाई को भाईसाहब कहा...? कमाल है, तुम तो अब तक उसका नाम लेती थीं।

**ज्योति** : [चौंककर] आपके भाई का....?

**विवेक** : हां... हां... । अभी कहा ना....।

**ज्योति** : मैने तुम्हारे नहीं.... अपने भाईसाहब को कहा। उनका फोन आया है। वह कल आ रहै है। मेरे चचेरे भाई... राजन भाईसाहब....।

**विवेक** : [ चौंककर ] तुम्हारे भाई.....?

**ज्योति** : हां... हां... राजन भाईसाहब...। उन्हीं का तो फोन था।

**विवेक** : तो ये... फल.. मिठाई... नमकीन, मेवा तुम उनके लिए मँगा रही थीं....?

[ विवेक सोफे पर लम्बा हो जाता है ]

**ज्योति** : ये क्या... नाटक कर रहे हो....? उठकर दरवाजे और खिड़कियों के पर्दे बदलो....।

**विवेक** : [ शान्त पड़ा रहता है ]

**ज्योति** : सुना नहीं....? परसादी काका को सामान लाने को पैसे दो।

**विवेक** : [फिर भी चुप पड़ा रहता है ]

**ज्योति** : उठते हो या नहीं...?

**विवेक** : मुझसे मत बोलो...।

**ज्योति** : क्यों....?

**विवेक** : तुम्हें क्या पता... मेरा क्या हाल है....? [ मुंह बनाकर ]

**ज्योति** : [ विस्मय से ] अभी तो तुम ठीक थे...।

**विवेक** : तुम्हारे घर का खर्च चलाने के लिए काम करता रहता हूँ, इससे तुम्हें ठीक दिखाई देता हूँ। मेरे ऊपर जो बीतती है, मैं ही जानता हूँ।

**ज्योति** : अच्छा... अच्छा...। बनो-मत....। पर्दे बदलो....।

**विवेक** : मैंने कहा ना....। मुझसे बात मत करो।

**ज्योति** : [कड़े स्वर में] वि...वे...क...।

**विवेक** : मेरी तबियत ठीक नहीं है। खुद ही बदल लो और मेरे लिए एक कप चाय भी बना लाओ और सुनो, राजन को तुम अपनी माँ के घर ठहरा देना। [ पाँव लम्बे करके सोफे पर लेट जाता है। ज्योति क्रोध से भड़क कर खड़ी होती है। विवेक को घूरकर। परसादी मुँह पर अँगोछा ढककर हँसता हुआ अन्दर चला जाता है ]

**ज्योति** : जब भी मेरा कोई रिश्तेदार आता है। तुम टालने की कोशिश करते हो।

**ज्योति** : परसादी...। परसादी... काका....।

[ अन्दर से परसादी तेजी से आता है। ज्योति की ओर देखता है ]

**ज्योति** : तुम अभी ... जाओ... और इनके पिताजी से जाकर कहो कि इन्होंने मुझे परेशान कर रखा है।

[ सुनकर विवेक उठकर बैठता है। परसादी को सम्बोधित कर कहता है ]

**विवेक** : नहीं... काका...। तुम इनकी माताजी के पास जाओ और उनसे कहो कि इन्होंने मुझे परेशान कर रखा है।

**ज्योति** : नहीं....। तुम इनके पिताजी के पास जाओ....।

**विवेक** : नहीं....। तुम इनकी माताजी के पास जाओ।

**ज्योति** : [ खीजकर ] देखो...। मैं तुम्हारी मालकिन हूँ...। मेरा कहा मानो।

**विवेक** : और मैं तुम्हारा मालिक हूँ। मेरा कहा मानो।

**ज्योति** : [ चीखकर ] नहीं....। परसादी मेरा काम करेगा।

**विवेक** : नहीं....। परसादी मेरा काम करेगा।

**ज्योति** : [रोकर ] चीखो...। जोरों से चीखो....। जंगली आदमियों की तरह घर में हंगामा मचा दो।

**विवेक** : चीख तो तुम रही हो।

**ज्योति** : मैं....?

**विवेक** : नहीं तो क्या....? जो कुछ कहना है धीरे भी कह सकती हो।

**ज्योति** : [तिलमिलाकर इधर-उधर देखती है। परसादी अन्दर चला जाता है ]

**विवेक** : शान्ति से बैठकर भी तो बातें की जा सकती हैं।

**ज्योति** : [ तनकर खड़ी हो जाती है ]

**विवेक** : बैठ जाओ....।

[ज्योति बैठती है। कुछ नम्र होकर विवेक से प्यार से कहती है ]

**ज्योति** : विवेक...।

**विवेक** : हूँ....।

**ज्योति** : परसादी काका को मेरा काम करने दो।

**विवेक** : यही मैं तुमसे कहना चाहता हूँ कि परसादी काका को तुम मेरा काम करने दो...।

[ ज्योति तमतमाकर खड़ी हो जाती है। दो पग दूर जाकर बोलती है। ]

**ज्योति** : ठीक है....। तुम अपनी जिद चलाओ...। मैं खुद ही तुम्हारे पिताजी के पास चली जाती हूँ। जाकर उनसे कहूँगी कि क्या मनमोहन अपने चाचा के घर नहीं ठहर सकता है....?

**विवेक** : मैं तुम्हारी माँ के घर चला जाता हूँ। कहूँगा कि क्या राजन अपनी चाची के घर नहीं ठहर सकता....?

**ज्योति** : [ अकड़कर ] नहीं...। राजन भाई साहब यहीं ठहरेंगे।

**विवेक** : तो मनमोहन भी यहीं ठहरेगा।

**ज्योति** : नहीं, वह पिताजी के पास ठहरेगा।

**विवेक** : तो राजन तुम्हारी माताजी के पास ठहरेगा।

**ज्योति** : ओफ्फो....। मैं उसे कितने दिनों से अपने यहाँ आने का निमंत्रण दे रही हूँ। तुम... समझते.. क्यों नही....। मेरी प्रतिष्ठा का प्रश्न है।

**विवेक** : [ गम्भीर होकर ] ध्यान से सुनो... ज्योति....। स्त्री की प्रतिष्ठा ऐकान्तिक नहीं होती। स्त्री और पुरुष जब अपनी वैयक्तिकता त्याग कर विवाह के संयोग-सूत्र में बंध जाते हैं तो उनकी वैयक्तिकता विलुप्त हो जाती है और पति-पत्नी के संयोग के बाद उनकी प्रतिष्ठा का स्वरूप सामूहिक हो जाता है।

**ज्योति** : तुम क्या कहना चाहते हो ?

**विवेक** : आधुनिक बोध ने दाम्पत्य-जीवन के बौद्धिक धरातल पर व्यक्तिनिष्ठ अहं को अधिक उद्दीप्त किया है, उस अहं की भावना के कारण ही आधुनिक दम्पत्ति के जीवन में संघर्ष और समस्याओं का दुरूह जाल बुनता जा रहा है। आज उसका अहं छोटी-छोटी बातों पर प्रतिष्ठा के नाम की गुहार लगाने लगता है।

**ज्योति** : जब तुम इतने समझदार हो तो संघर्ष और समस्याओं को समाप्त क्यों नहीं कर देते ?

**विवेक** : बहुत बार सोचा कि तुम्हें शान्त क्षणों में समझा सकूँ कि पति और पत्नी का प्रतिपल का पारिवारिक संघर्ष भविष्य के लिए घातक है। जब तक हम केवल पति-पत्नी थे, अपनी युगल-सत्ता में स्वेच्छाचरण के लिए स्वतन्त्र थे। माता-पिता बनने के बाद हमारी इच्छा-आकांक्षाओं, वृत्ति-प्रवृत्तियों तथा गुण-दोषों का प्रतिबिम्ब हमारी सन्तान पर पड़ता है। परिवार बच्चों के संस्कार-निर्माण की प्रच्छन्न पाठशाला है। हमारे विरोध के

कारण वे एक और हमारे स्नेह से वंचित होते हैं, दूसरी ओर उनके मानस पर हमारे आचरणों के मौन बिम्ब पड़ते रहते हैं। इसलिए हमें बहुत सजग रहना चाहिए। अपने लिए नहीं, बच्चों के भविष्य के लिए।

**ज्योति** : तो मैं क्या अपने बच्चों का अहित चाहती हूँ....?

**विवेक** : हर माँ अपने बच्चों का हित चाहती है। किन्तु आधुनिक बोध की चिन्तन-धारा ने जहाँ विकास के अनेक पथ प्रशस्त किये हैं, वहीं वैचारिक विकृति को भी जन्म दिया है। हमारा वैचारिक परिवेश आज एक भीड़ की भाँति हो गया है, जिसमें नाना प्रकार के व्यक्ति एकत्र हैं। अच्छे, बुरे, उदार, कृपण, शान्त और उग्र। विचारों की भीड़ के कोलाहल में सही और शान्त निर्णय लेना आज के युग की एक जटिल समस्या बन गयी है।

**ज्योति** : मैं.... मानती हूँ कि मैने जीवन की समस्या पर कभी तुम्हारी तरह गम्भीरता से विचार नहीं किया। विवाह के पूर्व ही मैंने बड़े-बड़े सपने देखने शुरू कर दिये थे। वे पूरे नहीं होते तो मुझे गुस्सा आता है, मैं घुटने लगती हूँ।

**विवेक** : जब सपने पूरे नहीं होते तो मन में कुण्ठाओं का जन्म होता है। कुण्ठाओं का धुंआ अधिकारों को ललकारता और विवेक शक्ति को पंगु बना देता है, मनुष्य का धैर्य और सहनशीलता विनष्ट कर देता है। [समझाते हुए] ज्योति....! जीवन हमारी वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं, वह समाज की सम्पत्ति है। हम अरण्य के पादप नहीं, जो निर्जन एकान्त में अपना ऐकान्तिक जीवन व्यतीत कर लें । वृक्ष का कोई सामाजिक धर्म नहीं होता, लेकिन हमारा सामाजिक धर्म है, हम जिससे विमुख नहीं हो सकते।

**ज्योति** : इस सत्य से मैं पूरी तरह सहमत हूँ। हम जंगलों में जीवन नहीं बिताते, समाज में रहते हैं। प्रतिपल हमारा काम समाज से पड़ता है।

**विवेक** : किन्तु आधुनिक बोध ने व्यक्ति को निजस्वार्थ की सीमाओं में जकड़ दिया है। वह संसार के सारे सुख, सारी सुविधाओं का एकमात्र अधिकारी बनना चाहता है। आज के युग में व्यक्तिवादी भावना की प्रधानता का विस्तार हुआ है। व्यक्ति अपने ही घेरे में कैद होकर रह गया है। इस पर विषमता यह है कि वह सोचते समय सारे विश्व को देखता है; किन्तु करने के समय मात्र अपने लिए ही करना चाहता है।

**ज्योति** : अब मैं समझ पायी कि तुम बच्चों को अपने पिताजी के पास छोड़ने को क्यों कहा करते हो...?

**विवेक** : यहाँ रहने पर वे हर समय हमारे- तुम्हारे झगड़े सुनते हैं। उनके मन पर उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। [ भावुक होकर] ज्योति...! एक बात कहूँ...!

**ज्योति** : कहो....।

**विवेक** : मैं भी घुटन और पीड़ा की अग्नि में सुलगता रहता हूँ। पिता के रूप में... जब बच्चों के भविष्य का ध्यान आता है, मेरा हृदय वेदना से भर उठता है। उस आन्तरिक वेदना ने मेरे मन में भी कुण्ठाओं को जन्म दिया है। मैं अन्दर ही अन्दर सुलगता रहा हूँ और मेरा मानसिक संतुलन बिगड़ता जा रहा है।

**ज्योति** : [ लम्बी सांस लेकर ] तो सारा अपराध मेरा ही है।

**विवेक** : मैं यह भी नहीं मानता।

**ज्योति** : तब...?

**विवेक** : युग का वातावरण जब विषाक्त हो जाता है, तब सभी में विचार दोष आ जाता है।

**ज्योति** : [ प्यार से ] विवेक....।

**विवेक** : हुँ....।

**ज्योति** : आज तुम्हारी बातों से मेरे मन में कुछ हलचल होने लगी है।

**विवेक** : भगवान का शुक्र है।

**ज्योति** : मजाक मत समझो विवेक...। मैं सच कह रही हूँ। मुझे लगता है कि मैं कहीं न कहीं कुछ भूल रही थी। कहीं.... मैं भी खोखली थी।

**विवेक** : [ चकित होकर ] सच... ज्योति...?

**ज्योति** : हां... विवेक...। सच कह रही हूँ...। लेकिन.... लेकिन... तुमने आज से पहले मुझे जीवन का यह रहस्य क्यों नहीं बताया...?

**विवेक** : तुम्हें सुनने की फुर्सत ही कहाँ थी....?

**ज्योति** : कैसे....?

**विवेक** : महत्वाकांक्षाओं के पंखों पर आकाश में उड़ती रहती थीं।

**ज्योति** : क्या कहते हो.... विवेक...?

**विवेक** : अनेक बार जीवन में एकान्त वार्ता के अवसर आये। जब भी मैंने चाहा कि तुम्हें शान्ति से समझाऊँ... तुम अपनी शिक्षा की दुहाई देकर कहती रहीं कि मैं भी पढ़ी-लिखी हूँ। मुझे उपदेश मत दो।

**ज्योति** : तो.... क्या सचमुच मैं... मैं... बी. ए. पास नहीं थी...?

**विवेक** : शिक्षा प्राप्त करके उपाधि लेना अलग बात है ज्योति...। केवल उपाधि धारण कर लेने से मनुष्य सुशिक्षित नहीं हो जाता।

**ज्योति** : तो उपाधि का कोई महत्व नहीं....?

**विवेक** : उपाधि तो कागज का एक प्रतीक है। उपाधि की सार्थकता उसे धारण करने वाला साकार करता है। शिक्षित व्यक्ति जब तक शिक्षितों जैसा आचरण न करे, शिक्षित और अशिक्षित में क्या अन्तर है...? शिक्षा का मूल उद्देश्य मनुष्य में गुणों का विकास करना है। इसलिए... ज्योति...। शिक्षा का अर्थ मात्र पुस्तकों के पठन-पाठन और प्रश्नों के उत्तर देने तक सीमित नहीं है।

हमने जो कुछ पढ़ा है, उसे हृदयंगम कर तदनुरूप आचरण करना, सही शिक्षा है। आज हृदयंगम करना तो दूर की बात है, परीक्षा देने के बाद छात्र यह भी भूल जाता है कि उसकी पुस्तक में कितने पाठ थे, किस पाठ का लेखक कौन था...?

**ज्योति** : [ विनोद मूलक स्वर में ] विवेक...।

**विवेक** : हुँ...।

**ज्योति** : एक बात कहूँ....?

**विवेक** : कहो....।

**ज्योति** : तुम मुझे बी. ए. की पुस्तकें ला दो।

**विवेक** : क्या करोगी...?

**ज्योति** : पढ़ूँगी।

**विवेक** : फिर बेहूदी बात...।

**ज्योति** : तुम समझते क्यों नहीं...? मैं सच कह रही हूँ।

**विवेक** : क्या दुबारा बी. ए. की परीक्षा दोगी ?

**ज्योति** : परीक्षा के लिए नहीं, ज्ञान के विकास के लिए। आज तुमने मुझे लज्जित कर दिया। उस वक्त मैंने पुस्तकें केवल परीक्षा पास करने के लिए पढ़ी थीं। अब उनका अध्ययन करूंगी, उनसे प्रेरणा लूंगी।

**विवेक** : बेकार की बात करती हो।

**ज्योति** : क्यों...?

**विवेक** : ज्ञान बढ़ाना है तो बी. ए. की ही किताबें क्यों...? और सैकड़ों पुस्तकें हैं। उन्हें पढ़ो।

**ज्योति** : उन्हें भी पढ़ूँगी। किन्तु विद्यार्थी जीवन का प्रायश्चित तभी होगा, जब पाठ्य-क्रम की पूरी पुस्तकों को गम्भीरता से पढ़ लूँगी।

**विवेक** : अच्छा छोड़ो...। तैयार हो जाओ तो मेहमानों के सत्कार के

लिए बाजार चल कर सामान ले आयें।

**ज्योति** : [ प्रसन्न होकर ] सच...?

**विवेक** : परसादी काका जाने कैसी चीज लाये ? खुद देखकर लायेंगे।

**ज्योति** : मनमोहन के लिए या राजन भाईसाहब के लिए...?

**विवेक** : फिर बहकने लगीं....।

**ज्योति** : क्यों....?

**विवेक** : दोनों के लिए। दोनों ही हम दोनों के महमान है। दोनों ही अपने हैं।

**ज्योति** : [प्रसन्न होकर] चलो....। [ खड़ी होती है ]

**विवेक** : [रोककर] बिना भोजन किये....? आफिस से आकर अभी मैंने भोजन कहाँ किया। बात ही बातों में आधा घंटा निकल गया।

**ज्योति** : अभी बनाकर लाती हूँ....। [अन्दर जाने को होती है। कुछ याद आता है। रूक कर ]

**ज्योति** : सुनो...।

**विवेक** : हां....।

**ज्योति** : सामान लेने चलेंगे तो बच्चों को भी पिताजी के पास से लेते आयेंगे।

**विवेक** : दीपावली हो जाने दो। उसके बाद लायेंगे।

**ज्योति** : मन नहीं लगता।

**विवेक** : आठ-दस दिन की बात और है।

**ज्योति** : मगर... अभी लाने में....।

**विवेक** : [सोफे पर लम्बा हो जाता है। ज्योति देखकर चौंकती है। समीप आकर ]

**ज्योति** : क्या हुआ....?

**विवेक** : भूख के मारे चक्कर आ गया....।

**ज्योति** : [हंसकर] चलो...। बनाते हो। इतनी देर से क्यों नहीं आया....?

**विवेक** : तुम जो पास बैठी थीं।

**ज्योति** : [लजाकर] तो... साथ चलो। अन्दर ही भोजन करना [ हाथ पकड़ कर उठाती है ] यहां अकेले फिर चक्कर आने लगेगा। [ विवेक स्नेह से देखता है। उठकर साथ जाता है। इनके अन्दर जाने के बाद द्वार खटखटाने की आवाज होती है। अन्दर से परसादी आकर द्वार खोलने को जाता है। पड़ौसी केदारनाथ आते हैं। परसादी पूछता है]

**परसादी** : कैसे तकलीफ की सेठ जी....?

**केदारनाथ** : मै अभी फैक्ट्री से आया तो वाइफ ने बताया कि तुम्हारे यहां बहुत जोर-जोर से शोर हो रहा था।

**परसादी** : शोर...?

**केदारनाथ** : हां.... तुम्हारी मालकिन हमारे यहां फोन सुनकर आयीं। उसके बाद तुम्हारे यहां शोर चालू हो गया। भाई पड़ौस का भी ध्यान रखा करो। मेरी वाइफ हार्ट की मरीज है। शोर-गुल सुनकर उसको घबराहट बढ़ जाती है।

**परसादी** : लेकिन... सेठ जी.....।

**केदारनाथ** : नहीं...। उनसे कह देना यह बात अच्छी नहीं है। भले आदमियों की तरह रहो। अपने सुख के साथ पड़ौसियों के सुख का भी ध्यान रखो।

**परसादी** : मगर सेठ जी.....। आप सेठानी को समझा देना कि घबराने की कोई बात नहीं है।

**केदारनाथ** : तुम उसकी आदत नही जानते। उसे लड़ाई-झगड़े से डर लगता है, वह घबरा जाती है।

**परसादी** : मगर सेठ जी....। यहाँ लड़ाई-झगड़ा हुआ ही नहीं।

**केदारनाथ** : तो शोर-गुल क्या आसमान से आ गया....?

**परसादी** : वह... शोर....। वह हमारे बाबूजी... वो... मशीन पर... नाटक सुन रहे थे।

[अन्दर से विवेक आता है। केदारनाथ को देखकर नमस्ते करता है। कुछ बोलने को है कि परसादी बीच में ही बोल पड़ता है।]

**परसादी** : वो... आप मशीन पर थोड़ी देर पहले नाटक सुन रहे थे ना। जिसमें मर्द-औरत का झगड़ा था, उसका शोर इनके यहां पहुंचा था। सेठानीजी शोर सुनकर घबरा गयीं।

**केदारनाथ** : मशीन....? मर्द-औरत के झगड़े का शोर....?

[परसादी विवेक की ओर इशारा करता है। विवेक समझ कर]

**विवेक** : ये टेपरेकर्डर की कह रहे हैं सेठ जी... टेपरेकर्डर...।

**केदारनाथ** : तो महरबानी करके अपने टेपरेकर्डर को जरा धीमा बजाया कीजिए।

**विवेक** : वो.. कुछ देर के लिए खराब हो गया था। चींचीं बहुत करने लगा था। अब ठीक हो गया है। अब चींचीं नहीं करेगा।

[केदारनाथ जाते हुए कहता है]

**केदारनाथ** : हां... भाई....। जरा ध्यान रखना। कहीं तुम्हारा टेपरेकर्डर फिर खराब न हो जाए....।

**विवेक** : मैं अन्दर देखता हूँ। कहीं टेपरेकर्डर फिर चालू न हो जाए।

[दोनों हंसते हैं। विवेक हंसता हुआ अन्दर जाता है। परसादी कपड़े से फर्नीचर की सफाई करने लगता है]

## पटाक्षेप

## अंक दो

### दृश्य-विधान

वही कमरा है। टेबिल के कपड़े और पर्दों के कपड़े बदल गये हैं। कमरे में पहले की अपेक्षा सजावट अधिक है। देखने में वातावरण स्वच्छ व सुन्दर लग रहा है। सोफे पर राजन बैठा है। हाथ में कोई पत्रिका है। पास ही ज्योति बैठी है। सेन्टर टेबिल पर खाली टी-सेट है। एक प्लेट में केले के छिलके आदि पड़े है। सोफे के बराबर एक अटैची तथा एक बैग रखा है।

**ज्योति** : पता ही नहीं चला। बातों ही बातों में आठ दिन निकल गये।

**राजन** : दिन हो या रात। समय का पंछी तेजी से उड़ता ही रहता है... ज्योति...।

**ज्योति** : तुम्हारे आने से मुझे बहुत खुशी हुई।

**राजन** : मगर चाचीजी से जब भी मिलने गया, उन्होंने आँखे लाल करके गुस्सा ही दिखाया। बोली, तू तो ज्योति के घर आया है - मुझसे क्या मतलब.....?

**ज्योति** : लो तुम हमेशा वहीं आकर ही तो ठहरा करते थे। मेरे यहाँ तो तुम पहली बार ठहरे हो।

**राजन** : ज्योति...।

**ज्योति** : हुं....।

**राजन** : संसार में सबको प्रसन्न रखना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इस बार तुम प्रसन्न हो गयीं तो चाचीजी नाराज हो गयी। [ कुछ याद करके ] अरे... हां... मनमोहनजी जाते समय अपना पता दे गये थे। मैने पता बिस्तर पर तकिये के नीचे ही छोड़ दिया।

**ज्योति** : मैं लाये देती हूँ।

[ कहकर अन्दर जाती है। राजन अपनी पत्रिका बैग में रखता है। रूमाल जेब से निकालकर उसकी तह करता है। अन्दर से ज्योति पता लेकर आती है। राजन उसे देखकर जेब में रखता है ]

**राजन** : मुझे मनमोहन का स्वभाव बहुत पसन्द आया। तीन दिन रहा। हर समय हंसता-हंसाता रहता था। चाय हो या नाश्ता, पहले मुझे देता था, कहता था आप हमारी भाभी के भाई हैं....।

[ द्वार की घण्टी बजती है। ज्योति द्वार खोलती है। मनोज आता है। हाथ जोड़कर दोनों को नमस्ते करता है। ज्योति बैठते हुए ]

**ज्योति** : बैठो मनोज...। कहाँ से आ रहे हो.....?

**मनोज** : प्रमोद और सुनीता को पढ़ाकर लौट रहा था। बाबा साहब ने कहा है कि सुबह के समय ठन्ड हो जाती है। बच्चों के स्वेटर भिजवा दीजियेगा।

**ज्योति** : मन लगाकर पढ़ते हैं ना दोनों...?

**मनोज** : चेष्टा तो पूरी कर रहा हूँ कि दोनों प्रथम श्रेणी में... (राजन मनोज की हिन्दी भाषा सुनकर कुछ मुँह बनाता है। मनोज से कहता है )

**राजन** : यू लिटिल मास्टर.. मनोज !

**मनोज** : जी...!

**राजन** : परसों हम तुम्हारे साथ बच्चों से मिलने गये। खूब बातें हुई। हमको एक बात बहुत बुरी लगी।

**मनोज** : क्या.....?

**राजन** : तुम बच्चों को वहाँ बता रहे थे कि मम्मी को माताजी और पापा को पिताजी कहना चाहिए। यार... दुनियां तो अंग्रेजी की तरफ

बढ़ रही है और तुम उनकी अंग्रेजी को हिन्दी की तरफ ले जा रहे हो।

**राजन** : लेकिन मै उन्हें अंग्रेजी अलग से पढ़ाता हूं।

**राजन** : अभी बच्चे हो। दुनिया देखी नहीं है।

**ज्योति** : हां, अंग्रेजी के बिना आज की दुनियां में आदमी की कोई कदर नहीं होती। पता नहीं तुम अंग्रेजी से क्यों नफरत करते हो...?

**मनोज** : नो आंटी...। आई डोन्ट एटआल हेट इंगलिश। मैं अंग्रेजी को बहुत प्यार करता हूँ, उसे सम्मान देता हूँ।

**राजन** : लेकिन अलापते हमेशा हिन्दी ही रहते हो। अजीब बात है। कथनी कुछ और करनी कुछ....।

**मनोज** : अंकल....।

**राजन** : हूँ....।

**मनोज** : एक बात कहूँ....।

**राजन** : यस...।

**मनोज** : अंग्रेजी के बारे में मेरा दृष्टिकोण अलग है।

**राजन** : वह क्या....?

**मनोज** : भान लीजिये हमारी मां है, उसकी कई बहिनें हैं। हमारे लिए वे सभी पूज्य हैं, सम्मान करने योग्य है; किन्तु हमारा जो भावात्मक सम्बन्ध अपनी मां से हो सकता है। वह मौसियों यानी आंटियों से नहीं हो सकता। इसी प्रकार हिन्दी हमारी मातृभाषा है अन्य भाषाएं मौसियों के समान हैं। अंग्रेजी ही क्यों, मैं तो सभी भाषाओं को मौसी के समान पूज्य मानता हूं, उनका तिरस्कार नहीं करता, उन्हें सम्मान देता हूं। लेकिन मां का स्थान केवल मातृ-भाषा को ही दिया जा सकता है; क्योंकि उससे हमारे हृदय का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है।

**राजन** : भाई...। दलील बहुत अच्छी देते हो...।

**मनोज** : दलील की बात नही अंकल.. सिद्धान्त की बात है। हमें भारत और विदेश की सभी भाषाओं से प्यार है। हम उन्हें पढ़ना चाहते हैं; क्योंकि हम जितनी अधिक भाषाएं पढ़ेंगे, हमारा उतना ही ज्ञान बढ़ेगा।

**राजन** : [ हंसते हुए ] नाइस.... व्यूज...। लवली....। प्रोमिजिंग...। जरा देखो बेटे ! परसादी रिक्शा लेने गया है। बड़ी देर हो गयी।

**मनोज** : अभी देखता हूं।

[ राजन ज्योति की ओर देखकर ]

**राजन** : लड़का बहुत होनहार है। बच्चों को जरूर अच्छा पढ़ाता होगा। इसके प्रोफेसर भी कमाल के आदमी हैं। उस दिन मनमोहन के साथ घर गया तब देखा.. क्या बात है...? वैरी जैण्टिल एण्ड ग्रेट...। मिलकर तबियत खुश हो गयी।

**मनोज** : रिक्शा लेने दूरी पर जाना होता है। [तभी परसादी अन्दर आता है। अटैची उठाते हुए कहता है ]

**परसादी** : रिक्शा आ गया बाबू साहब, पर आपके सिगार का पैकिट नहीं मिला। [दूसरे बैग को मनोज उठाता है। राजन खड़ा होता है। ज्योति भी खड़ी होती है। राजन पर्स से पचास रुपये का नोट निकालता है। ज्योति की ओर बढ़ाते हुए ]

**राजन** : ज्योति !

**ज्योति** : जी....!

**राजन** : दीपावली का अवसर है। बच्चों को इसकी मिठाई भिजवा देना।

**ज्योति** : [संकोच करती हुई] ये... क्या... भाईसाहब....?

**राजन** : क्या वे बच्चे हमारे नहीं हैं...? क्या हम अपने बच्चों पर इतना भी अधिकार नहीं रखते....?

**ज्योति** : आप तो शर्मिन्दा कर रहे हैं।

**राजन** : लो रख लो।

[नोट उसके हाथ में देता है। वह संकोच के साथ नोट लेती है। राजन ज्योति के सिर पर हाथ रखकर चलते हुए कहता है ]

**राजन** : खुशी से रहना बहिन !

**ज्योति** : कितना अच्छा होता कि विवेक तुम्हें छोड़ने स्टेशन जाते।

**राजन** : वह अपने पिता के पास गया है। [ कह कर तेजी से बाहर चला जाता है। ज्योति के हृदय में मनोद्वन्द्व उठता है। खड़ी-खड़ी जड़वत हो जाती है। तभी परसादी अन्दर आता है ]

**परसादी** : मनोज रिक्शे में उनके साथ स्टेशन गया है।

**ज्योति** : [कठोर स्वर में] मनोज तो.. जा सकता है... पर... वह.. नहीं जा सकते.. थे...?

**परसादी** : बहू रानी...।

**ज्योति** : [अपने विचारों में खोयी रहती है ]

**परसादी** : क्या सोच रही हैं ? [ कुछ ऊँचे स्वर में] बहू.. रानी....!

**ज्योति** : क्या है...?

**परसादी** : दिवाली - पूजन को सामान तो मैने सुबह की लाकर रख दिया था। बाजार से कुछ और चीजें मंगाने को कह रहीं थीं। मेहमान तो चले गये। सामान बताओ तो ले आऊँ...।

**ज्योति** : [क्रोध में] सामान । कुछ नहीं मंगाना।

**परसादी** : तो रसोई में चलकर काम चालू करें।

**ज्योति** : [ गुस्से में ] अब कुछ नहीं करना। मेरा सिर मत खाओ।

[परसादी गुस्सा देखकर सहम जाता है। टेबिल की प्लेटों को समेट कर अन्दर ले जाता है। ज्योति कमरे में इधर से उधर टहलती रहती है। वहीं से पुकार कर कहती है ]

**ज्योति** : परसादी... काका।

**परसादी** : [अन्दर से ही] जी... बहू रानी...!

**ज्योति** : एक कप चाय दे जाओ। थरमस में रखी है।

**परसादी** : [अन्दर से ही] अभी लाया बहू रानी.. !

[ज्योति उठकर अपने पर्स को देखती है। पुकार कर ]

**ज्योति** : मेरे पर्स में ऐनासिन की गोली पड़ी थी।

[परसादी चाय लेकर आता हुआ। ज्योति पर्स को ही देख रही है ]

**परसादी** : काहे की गोली.. बहू रानी ?

**ज्योति** : ऐनासिन की...।

**परसादी** : [चाय रखते हुए] मुझे नहीं पता बहू रानी।

**ज्योति** : [गोली निकालते हुए] हां । मिल गयी । [पर्स से गोली निकालती है। उसका कागज फाड़ती है, गोली के साथ चाय पीती है। परसादी चाय रखकर अन्दर चला जाता है। ज्योति चाय समाप्त नहीं कर पाती कि बाहर से विवेक आता है। ज्योति को चाय पीता देखकर बगलवाले सोफे पर बैठता है ]

**विवेक** : राजन भाई साहब चले गये क्या...?

**ज्योति** : [टेढ़ी दृष्टि से देखती है। चुप रहती है ]

**विवेक** : [घड़ी देखकर] पिताजी की तबितयत ठीक नहीं थी। बोले तुम बाजार जाकर बच्चों को उनकी पसंद के कपड़े दिलालाओ। जाना पड़ा। बच्चों को और उनकी मां को कपड़ा पसंद कराना भी तो कोई आसान काम नहीं है ! [ सर पकड़ कर ] बाप रे...। जान आफत में आ जाती है।

[बोलते-बोलते ज्योति को गुमसुम देखता है। कुछ सोचता है। उठकर उसके पास जाकर बैठता है। ज्योति उससे दूर खिसक जाती है। विवेक का माथा ठनकता है ]

**विवेक** : भाई.. बच्चे तो अपने ही हैं। उन्हें कपड़े दिलाने में कुछ देर हो गयी तो क्या हुआ ? इसमें गुस्सा करने की क्या बात है...?

**ज्योति** : जब बच्चों को नहीं संभाल सकते तो .. दादाजी बनकर उन्हें अपने साथ ले क्यों गये ?

**विवेक** : [चौक कर] ज्यो...ति...। तुम्हें क्या हो गया ?

**ज्योति** : अपने दिल से पूछो। मुझे हुआ है या तुम्हें ?

**विवेक** : मुझे ?

**ज्योति** : हां.. तुम्हें....।

**विवेक** : ज्योति...! लगता है तुम्हें... [बात बदलकर] कुछ नहीं.. नहीं..। जाओ.. एक कप चाय मेरे लिए भी ले आओ।

**ज्योति** : [वहीं बैठी हुई] मैंने परसादी से मंगायी थी, तुम भी मंगा लो।

**विवेक** : तुम नहीं ला सकतीं...?

**ज्योति** : नहीं...।

**विवेक** : तो मेहमानों के जाते ही तुम फिर अपने पहले रूप में आ गयीं।

**ज्योति** : ये तो अपने दिल से पूछो।

**विवेक** : [ उत्तेजित होकर ] मैं क्या पूछूं.. ! लगता है तुमने मेहमानों की वजह से उस दिन मुझसे झूठा समझौता किया था। तुम जानती थीं कि मेहमान चाहे तुम्हारे हों या मेरे, उनका सत्कार करने के लिए मुझे कहीं न कहीं से रूपये लाने पड़ेगे। [क्रोध में] इसलिए उस वक्त तुमने प्यार और प्रायश्चित का एक मिथ्या समझौता किया था।

**ज्योति** : [कड़क कर उठती है ] मुझ पर लांछन लगाने से पहले अपने कर्मों को देखो।

[अन्दर से परसादी आता है। दोनों को झगड़ते हुए देखकर समझाता है ]

**परसादी** : बहूरानी...! त्यौहार का दिन है। आज लड़ाई-झगड़ा सोभा नहीं देता।

**ज्योति** : [कड़क कर] तुम भी मुझसे ही कहते हो ?

**परसादी** : [भीत स्वर में] नहीं मालकिन ! दोनों को ही समझना चाहिए। चलो... अन्दर चलो। त्यौहार की तैयारी करो।

**ज्योति** : मुझे कुछ नहीं करना।

**परसादी** : धीरे बोलो... बहूरानी...! वो पड़ौस के सेठजी फिर आकर टोकेंगे।

**विवेक** : टोकेंगे तो फिर कह देना कि टेपरेकर्डर फिर से खराब हो गया है। मशीनों का आजकल क्या भरोसा... चलते चलते कब बिगड़ जाएँ ?

**परसादी** : अजी बिगड़े दुश्मनों का मुकद्दर। आप.. दोनों... बैठिये। दो घड़ी शान्ति से बात कीजिए। गलत-फहमी दूर हो जायगी। मैं दोनों के लिए चाय लाता हूँ। भैयाजी...! आज लड़ाई का दिन नहीं, हँसने-गाने का दिन है।

[परसादी अन्दर जाता है। दोनों एक दूसरे की ओर देखते हैं। बाहर से मनोज आता है। ज्योति मुँह फेर लेती है। विवेक देखता रहता है। मनोज दोनों को नमस्ते करता है ]

**मनोज** : गाड़ी में बिठा आया चाची जी ।

**विवेक** : टेपरेकर्डर का मोडिल तो बहुत अच्छा देखकर लिया था पर अन्दर मशीन में जाने क्या कमी है, चाहे जब बिगड़ जाती है।

**ज्योति** : [कड़ी आँखों से देखती है ]

**मनोज** : [दोनों की तनावपूर्ण स्थिति को देखकर] चाचाजी...!

**विवेक** : किन्हें छोड़ने स्टेशन गये थे.. मनोज...?

**मनोज** : राजन अंकल को।

**विवेक** : [चौंक कर]

**मनोज** : हाँ... चाचाजी... । आप उन्हें स्टेशन छोड़ने के समय घर पर नहीं थे। इसलिए मैं उन्हें स्टेशन छोड़ने चला गया।

[विवेक मनोज की बात सुनकर लम्बी साँस लेता है। सारे रहस्य को समझ कर ज्योति को इंगित कर कहता है ]

**विवेक** : अब समझा...। बाहर का मिस्त्री... हमारे अच्छे खासे टेपरेकर्डर का स्क्रू ढीला कर गया है।

[ज्योति सुनकर तेजी से उठकर खड़ी हो जाती है। गुस्से से फुंकार मारती हुई बोलती है ]

**ज्योति** : हाँ... मेरे घर वाले.. बाहर के लोग हैं। सब बाहर वाले हैं...।

[कह कर तेजी से अन्दर चली जाती है। दोनो देखते रह जाते हैं ]

**मनोज** : मुझसे भूल हुई चाचाजी..। मुझे यह बात नहीं कहनी चाहिए थी।

**विवेक** : तुम्हारा कोई दोष नहीं। तुमने तो जो कुछ कहा, सत्य था। तुम्हारी चाची का स्वभाव ही ऐसा है।

**मनोज** : किसी के मन को पीड़ित करनेवाला सत्य-कथन भी कभी-कभी अभिशाप बन जाता है।

**विवेक** : अभिशाप कथन में नहीं, अपनी दोषपूर्ण दृष्टि के कारण उत्पन्न हुआ करता है। असंतोष उसका मूल है। संसार में प्रातः से सांध्य तक हमारे चारों ओर जो कुछ घटित होता है, उसमें असंतोष उत्पन्न करने के अनेक अवसर विद्यमान रहते हैं। यदि हमारा अन्तस सजग नहीं है तो हम किसी भी कारण और अवसर पर अटक सकते हैं। यह अटकाव और भटकाव ही अभिशाप को जन्म देता है।

**मनोज** : अटकते हम तब हैं, जब चलना बन्द कर देते हैं। जीवन का लक्ष्य तो चलते रहना है। रुका हुआ जीवन बन्द जल की भाँति सड़ने लगता है।

**विवेक** : इसीलिए हमारे पूर्व पुरुषों ने चलते रहने की कल्पना की थी। आधुनिक काल की गतिशीलता को देखते हुए अब उसमें संशोधन करना होगा। अब आदमी चलता नहीं, उड़ता है। जीवन के प्रत्येक कार्य-क्षेत्र में त्वरा आ गयी है। ऐसी दशा में बहुत

जागरुक रहने की अपेक्षा है। दौड़ में तनिक पांव चूका और मनुष्य आहत हुआ। आज गति के जिस स्तर पर शरीर चल रहा है, उसी स्तर पर मस्तिष्क भी चलना चाहिए। जीवन में समस्या आयी कि तत्काल विवेक को जाग्रत किया और निर्णय लिया।

**मनोज** : त्यौहार का दिन है। घर में तनाव अच्छा नहीं लगता। आप अब तनिक चाची जी को संभालिए।

**विवेक** : हठ स्त्री का प्रकृत लक्षण है। वह हठ किसी के कहने से नहीं छोड़ती; क्योंकि किसी के कहने से करती भी नहीं है। परिस्थिति और संयोग से परास्त होकर स्वयं हठ छोड़ती है। आज की नारी पहले की अपेक्षा अधिक प्रबुद्ध है। इस प्रबुद्ध चेतना ने जहां उसके कार्य क्षेत्र को विस्तरित आयाम प्रदान किये हैं, वहीं उसकी संवेदनशीलता को आंशिक रूप से प्रच्छन्न कर दिया है। ( हँसते हुए ) तुम चिन्ता न करो.. मनोज...! मै उसे वर्षों से देख रहा हूँ।

**मनोज** : वह बहुत आवेश में हैं।

**विवेक** : आवेश का वेग समाप्त होने पर वह स्वयं शान्त हो जाती है। जितनी देर वह आवेशात्मक स्थिति में रहती है, किसी की नहीं सुनती।

**मनोज** : मेरे योग्य सेवा हो तो बताइये।

**विवेक** : घर जाकर त्यौहार का आनन्द लो। अपने पिताजी को हमारा नमस्ते कहना। [मनोज उठकर खड़ा होता है। विवेक उसके सिर पर हाथ रखकर उसे आशीर्वाद देता है। द्वार पर छोड़ने जाता है। अन्दर से ज्योति आती है। सोफे पर उदास पड़ जाती है। विवेक आकर कुछ पल मौन देखता है, पश्चात् बोलता है ]

**विवेक** : बहुत हो गया...। अब उठो....।

**ज्योति** : [कोई उत्तर नहीं देती ]

**विवेक** : देखो ज्योति....। अगर तुम्हारी तरह मेरा दिमाग भी खराब हो गया तो ?

**ज्योति** : मुझे धमकी दे रहे हो...?

**विवेक** : नहीं, समझा रहा हूँ।

**ज्योति** : [ कोई उत्तर नहीं देती ]

[विवेक परेशान होकर थककर बैठ जाता है। अन्दर से परसादी आता है। दोनों को देखकर उदास हो जाता है। पीछे की दीवार से लगी टेबिल पर गणेश-लक्ष्मी की मूर्ति लगाता है। पूजा की थाली लाता है। ज्योति की ओर देखकर दुखी वाणी में बोलता है। ]

**परसादी** : बहूरानी....! पूजा का सामान हमने लगा दिया है। अब हम जा रहे हैं। हमारा भाग तो खोटा है, बहूरानी, मन आये तो पूजा कर लेना।

**ज्योति** : कहां जा रहे हो...?

**परसादी** : हमें इस घर में अच्छा नहीं लगता। मन बहुत दुखी होता है।

**ज्योति** : तो अपने मालिक को क्यों नहीं समझाते...?

**परसादी** : हम तो दोनों को समझाते हैं। हाथ जोड़कर दोनों के निहोरे करते हैं। पर... पर... हमारी सुनता कौन है...? अब जाते हैं तो विवेक भैया के पिताजी को और आपकी माताजी को यहां बुला लाते हैं। उनसे कहेंगे कि अपनी अपनी औलाद को संभालो... हमें इजाजत दो।

[ कहकर चलने को होता है। तभी दोनों चौंक कर पूछते हैं ]

**ज्योति** : तुम इनके पिताजी को बुलाने जा रहे हो....?

**परसादी** : जी, आपके ससुर साहब को।

**विवेक** : और इनकी माताजी को बुलाने जा रहे हो....?

**परसादी** : जी, आपकी सासूजी को।

**विवेक** : नहीं, उन्हें मत बुलाओ। मेरे पिताजी को बुला लाओ।

**ज्योति** : नहीं, उन्हें मत बुलाओ। मेरी माताजी को बुला लाओ।

**विवेक** : ठहरो... परसादी.... काका.....। मै पत्र लिखकर देता हूँ। मेरे पिताजी को जाकर दे आओ।

[उठकर टेबिल से कागज पेन उठाकर सोफे पर धम से बैठता है। चिट्‌टी लिखता है। ज्योति कड़ी आँखों से देखकर उठती है ]

**ज्योति** : परसादी काका...।

**परसादी** : जी....।

**ज्योति** : मैं पत्र लिखकर देती हूं। मेरी माताजी को दे आओ।

[उठकर सामनेवाले सोफे पर चिट्‌ठी लिखने बैठती है। दोनों पत्र पूरा करके परसादी को देते हैं। पत्र देकर ]

**ज्योति** : जाओ, मेरी माताजी को दे आओ।

**विवेक** : नहीं, उन्हे मत देना। मेरा पत्र मेरे पिताजी को दे आओ।

[परसादी थोड़ी देर चक्कर में खड़ा रह जाता है, फिर सिर खुजाता हुआ चला जाता है। परसादी के जाने के बाद दोनों एक दूसरे को देखते हैं। फिर खड़े होकर टहलने लगते हैं। विवेक अन्दर जाता है और एक कप चाय लाकर पीने बैठता है। ज्योति भी अन्दर जाकर चाय लाती है और पीने बैठ जाती है। विवेक को खांसी आती है। खांसी के साथ चाय कपड़ों पर फैलती है। ज्योति उठकर ]

**ज्योति** चाय पीने तक की तमीज नहीं है। बच्चों की तरह सारे कपड़े बिगाड़ लिये। [ खांसी के कारण विवेक की पीठ सहलाती है ] जाओ... जाकर कपड़े बदलो। [वह कपड़े बदलने अन्दर जाता

है। ज्योति दोनों कप उठाकर अन्दर रखने जाती है। ज्योति अन्दर से आकर गणेश-लक्ष्मी को सजाना शुरू करती है। विवेक कपड़े बदल कर आता है। ]

**ज्योति** : बदल आये कपड़े....? मगर..... हुजूर... रसोई में क्या ताक-झांक कर रहे थे....?

**विवेक** : देख रहा था कि क्या-क्या पकवान बनाये हैं ?

**ज्योति** : पकवान....?

**विवेक** : दीपावली के पकवान।

**ज्योति** : नहीं बनाये।

**विवेक** : नहीं बनाये। क्यों....?

**ज्योति** : मेरी मर्जी।

**विवेक** : क्या मतलब...? दिवाली का खर्चा तो मैने तुम्हे आठ दिन पहले दे दिया था।

**ज्योति** : फिर झगड़ने लगे....?

**विवेक** : झगड़ने....?

**ज्योति** : तुम बात ही झगड़े की करते हो। देखते नहीं बाजार में इस बार सामान का दिवाला निकल गया है।

**विवेक** : तो इस बार पकवान नहीं बनेंगे....?

**ज्योति** : इतने कम पैसों में सारे इन्तजाम कैसे हो सकते है ?

**विवेक** : [क्रोध में] तुम्हारी इन्हीं बातों पर मुझे क्रोध आता है। पूजा न करने से अपशकुन नहीं होगा ? और फिर जब तुम्हें कुछ करना ही नहीं था तो मुझसे बहाना बनाकर पैसे किसलिये लिये थे ?

**ज्योति** : अच्छा शोर मत करो। हो जायेगी पूजा। बाजार से बना हुआ सामान लाकर पूजा कर लेंगे।

**विवेक** : ऐसा क्यों...?

ज्योति : इस बार पड़ौसवाले भी ऐसा ही कर रहे हैं। सुबह उनके यहां सारा सामान बाजार से आया था। आजकल बाजार में क्या नहीं मिलता...? पूरी, कचौडी, मिठाई, नमकीन....।

विवेक : [बात काटकर समीप जाते हुए] बाजार में सब कुछ मिल जाता है.....?

ज्योति : सब कुछ....।

विवेक : कहीं अक्ल भी मिलती है क्या....?

ज्योति : [अकड़ कर] फिर छेड़ छाड़ शुरू की....?

विवेक : तो इतना भी नहीं जानती कि हम पड़ौसवालों की नकल कैसे कर सकते हैं ? उनकी फैक्ट्री चलती है। हम वेतनजीवी प्राणी हैं। हमारी और उनकी आय में बहुत अन्तर है। ज्योति....! समाज के लोग जब बिना विचार किये एक दूसरे की नकल करने लगते हैं तो सामाजिक व्यवस्था में विषमता का जन्म होता है। कालान्तर में नकल की दौड़ घातक सिद्ध होती है। उनके पास इतनी अधिक आय है कि वे अपने घर को वैभव और विलास की वस्तुओं का भंडार बना सकते हैं। हमें आवश्यक साधन जुटाना भी दुष्कर हो रहा है।

ज्योति : मान लिया। तो तुमने अपनी सीमाओं में प्रारम्भ से ही एक नियम बनाया था। हर दिवाली पर तुम उसे पूरा किया करते थे... अब... दो वर्ष से....?

विवेक : बात बताओ। पहेलियां क्यों बुझा रही हो... ?

ज्योति : दीपावली के दिन तुम मेरे लिये दो नयी साड़ियां लाया करते थे।

विवेक : हूँ....। इस बार एक भी नहीं लाये। यही ना...?

ज्योति : तुम्हीं सोच लो।

विवेक : मगर तुम क्यों नही सोचती कि तब बच्चों का खर्च इतना नहीं था।

**ज्योति** : फिर वही बात। बच्चों का खर्च बढ़ गया है तो तुम जानो। बच्चे तुम्हारे हैं, उन्हें खिलाओ या भूखों मारो।

**विवेक** : [बन कर] तो ये बच्चे केवल मेरे ही हैं। तुम्हारे नहीं...?

**ज्योति** : मैं क्या इन्हें अपने साथ मायके से बांधकर लायी थी ?

**विवेक** : [विद्रूप के स्वर में ] नहीं जी। ये मेरे पास पहले से सन्दूक में बंद थे। तुम्हारे आते ही मैंने सन्दूक खोल दिया और बच्चे निकल पड़े।

**ज्योति** : [गुस्से में] जब देखो तब टेढ़ी बात। इन्हीं बातों की वजह से मेरी आपसे नहीं पटती। बहुत होगया..... बहुत होगया । अब नहीं सहा जाता। अपना घर संभालिये। मैं तो चली अपने मायके।

**विवेक** : मायके ?

**ज्योति** : इन हालतों से मैं आपके साथ एक दिन भी नहीं काट सकती।

**विवेक** : [आगे बढ़कर] तो सुनो देवीजी...! आप तो जायेंगी बाद में, पहले मैं ही चला अपने मायके। [ कुछ पग बढ़कर] लो जा रहा.. हूं।

**ज्योति** : [रोककर] सुनिये....। [विवेक रूकता है, पास जाकर] आपका मायका कौन सा है ?

**विवेक** : [संयतवाणी में] अपने पिताजी के घर। आपके कारण जिन्हें चार वर्ष से छोड़कर यहाँ रह रहा हूँ। अपना निजी घर होते हुए भी यहाँ किराये के मकान में दिन काटने पड़ रहे हैं। मुझे जब भी रास्ते में मिल जाते है, देख कर कहते हैं बेटे, ये तुम्हारी सेहत का क्या हाल होता जा रहा है ? जबसे अलग होकर रहने लगे हो, आधे भी नहीं रहे।

**ज्योति** : [गुस्से में] और मैं तुम्हारे यहाँ आकर हथिनी हो गयी हूं ? परसों सब्जीमंडी में मेरी माताजी मुझे देखकर आँखों में आंसू भरकर बोलीं, बेटी, जरा अपनी सेहत का ध्यान रखा करो।

पहले गुलाब के फूल की तरह लाल थीं, अब हल्दी की तरह पीली पड़ती जा रही हो।

**विवेक** : गुलाब के फूल की तरह...?

**ज्योति** : हां... हां....। बिल्कुल गुलाब के फूल की तरह।

**विवेक** : तभी तुममें काँटे हैं और वो भी बड़े तेज।

**ज्योति** : [खीजकर रोते हुए] हाँ मुझ में आज काँटे पैदा हो गये। आज से चार दिन पहले मेरे बिना खाना भी अच्छा नहीं लगता था। ये तो मै हूँ जो चौबीस घंटे तुम्हारी गुलामी करती रही। क्या सुख मिला मुझे तुम्हारे घर में...?

**विवेक** : मेरे घर में... या तुम्हारे घर में...? ज्योति...! यह घर मेरा नहीं, ये घर तुम्हारी जिद से अलग बसाया गया है, तुमने हठ करके यह घर अलग बसाया है। पिताजी के पास संगठित परिवार में थे, कोई चिन्ता नहीं थी। न खाने की, न कपड़े की। कोई चिन्ता आती थी तो उसकी इकाई परिवार की संगठित शक्ति से जूझकर सदैव बौनी हो जाती थी। स्वतंत्रता के नाम पर तुमने पारिवारिक संगठन को तोड़ा। मुझे तब तक यह पता नहीं था कि स्वतंत्र होते ही उत्तरदायित्व का भार सिर पर आ पड़ेगा। कुछ दिन बाद हमारी स्वतंत्रता संघर्ष में और सुख विषाद में बदल जायेंगे। अब सुबह से शाम तक चिन्ताओं के भार से दबा रहता हूँ। इतने पर भी तुम्हारे नखरे समझ में नहीं आते। अब संभालो अपना अलग बसाया हुआ घर, स्वंतत्रता से रहना। मैं तो चला अपने पिताजी के पास।

[ बाहर से परसादी आता है। दोनों को झगड़ता हुआ देखकर अन्दर जाता है ]

**ज्योति** : तो... तुम... सचमुच... अपने पिताजी... के घर जा रहे हो....?

**विवेक** : [कड़ी नजर से देखकर] हाँ...।

**ज्योति** : नहीं, वहाँ मत जाओ।

**विवेक** : नहीं अब रहो अकेली।

**ज्योति** : नहीं, नही, ऐसा मत करो। वहाँ मत जाओ।

**विवेक** : यहाँ तुम दिन-रात मुझसे झगड़ा करती हो। तुम्हारी फरमाइशें पूरी करते-करते मैं पागल हुआ जाता हूँ, वहां चैन से रहूँगा।

**ज्योति** : [प्यार से] अच्छा बाबा...। अब कोई फरमाइशें नहीं करुँगी। बैठो, चाय बनाती हूँ।

**विवेक** : नहीं।

[पास जाकर अपने कान पकड़ती है ] माफ कर दो सरकार... [विवेक घूरकर देखता है। ठंडा पड़ जाता है। खड़े होकर ज्योति का हाथ पकड़ता है। दोनों एक दूसरे को स्नेह से देखते हैं। ज्योति कहती है ]

**ज्योति** : चलो, ताजा चाय बनाती हूं।

**विवेक** : [इठलाते हुए] नहीं तुम पिलाओगी चाय और साहब बहादुर इस वख्त पीना चाहते हैं काफी।

**ज्योति** : काफी तो घर में नहीं है।

**विवेक** : [सोचकर] हाँ, ठीक है मैडम ! चलो, बाहर होटल पर पीकर आते हैं।

**ज्योति** : तुम पी आओ। मैं तब तक तैयारी करती हूँ।

**विवेक** : ओहो बिना तुम्हारे काफी पीने में क्या मजा आयेगा ? चलो, यहाँ परसादी काका देख लेंगें। [हाथ पकड़कर खींचते हुए] चलो ना।

**ज्योति** : [शर्माती हुई] अच्छा.. बाबा...! चलती हूँ। [पुकार कर] काका...! देखना। हम लोग जरा बाहर काफी पीने जा रहे हैं।

[दोनों बाहर जाते हैं। अन्दर से परसादी पूजा का सामान लेकर आता है। सजावट कर रहा है कि बाहर से कुंजबिहारी आते हैं]

**कुंजबिहारी** : परसादी लाल।

**परसादी** : [देखकर हाथ जोड़ते हुए] बड़े मालिक...! बैठिये। वो... वो बहूजी और बाबूजी तो अभी काफी पीने बाहर गये है।

**कुंजबिहारी** : मेहमान लोग चले गये। उनके सामने तो झगड़ा नहीं हुआ...?

**परसादी** : [हँसकर] नहीं मालिक...! उनके सामने तो बड़े प्यार से रहे।

**कुंजबिहारी** : ठीक है। [मिठाई का डब्बा देते हुए] ये मिठाई है। दीपावली के पर्व पर मेरी ओर से। कह देना कि बच्चों को में दो-तीन दिन बाद भेजूँगा। [कुछ गम्भीर होकर] प्रारब्ध की बात है परसादी ...! बहू की जिद जो ठहरी...। घर में रहते तो बात ही कुछ और थी। आज के दिन घर में साथ मिलकर पूजा करते, घर में मंगल प्रकाश फैलता, सारा घर खुशी की शहनाई से गूंज उठता।

**परसादी** : विवेक बाबू तो यही चाहते थे बड़े मालिक... पर...।

**कुंजबिहारी** : आज की बहुए बन्धन पसंद नहीं करतीं।

**परसादी** : आप जानते ही हैं, बड़े मालिक। आजकल....। बस समझते हैं कि अकेले रहने में ही जिन्दगी का असली मजा है।

**कुंजबिहारी** : [हंसकर] अभी नादान है बेचारी। नहीं जानती कि जीवन-यात्रा का पथ कितना दुर्गम है। जीवन की दीर्घ यात्रा में कितने घुमाव और मोड़ आते हैं। कभी सुख के सरोवर लहराते हैं तो कभी दुख की मरु-भूमि की तपन फैल जाती है। सुख और दुख, समृद्धि और अभाव जीवन-यात्रा के अनिवार्य सहगामी हैं। इन्हीं के द्वारा हमारी मान्याताओं में परिवर्तन होता है और हमारी जीवन-दृष्टि बदलती रहती है।

**परसादी** : किसी न किसी दिन बहूरानी का दिल जरूर बदलेगा। बड़े मालिक ! [बाहर से विवेक और ज्योति आते हैं। कुंजबिहारी को देखकर ज्योति पर्दा करती है। दोनों बढ़कर पिता के चरण छूते हैं ]

**कुंजबिहारी** : सदा सुखी रहो बेटे...। सौभाग्यवती रहो बहूरानी...।

**विवेक** : [बैठते हुए] आप कब आये पिताजी...?

**कुंजबिहारी** : जब तुम काफी पीने गये।

[ज्योति सुनकर चौंकती है। अन्दर की ओर जाती हुई संकेत से परसादी को बुलाती है। उसके कान में कुछ कहती है। सब लोग उधर देखते हैं]

**परसादी** : बहूरानी कहती हैं कि हम काफी पीने नहीं गये थे। डाक्टर के यहाँ गये थे, तबियत खराब थी।

[कुंजबिहारी मुस्कराता है। ज्योति परसादी को अपने साथ अन्दर ले जाती है ]

**कुंजबिहारी** : विवेक ! मैंने सुबह कहा था कि आज दीपावली का पूजन तुम लोग घर ही करते तो अच्छा रहता।

**विवेक** : वो.. बात... यह हुई... पिताजी....!

**परसादी** : [बाहर झांक कर बीच में बोल पड़ता है] बहूरानी कहती हैं कि तबियत ठीक नहीं थी। इसीलिये नहीं आये।

**विवेक** : [खीजकर] झूठ क्यों बोलती हो.. ? ये क्यों नहीं कहतीं कि वहाँ पहुँच कर तुम्हारा मुँह बन्द हो जाता है। वहाँ तुम मुझसे झगड़ा नहीं कर सकतीं। [अन्दर से ताली बजती है। परसादी उधर सुनता है। पश्चात् बोलता है ]

**परसादी** : बहूजी कहती हैं कि हममें कोई झगड़ा नहीं होता। [परसादी विवेक के पास जाकर कहता है] बहूरानी आपको अन्दर बुला रही हैं। [विवेक अन्दर की ओर देखता है पश्चात पिता की ओर देखता है]

**कुंजबिहारी** : जाओ... जाओ... सुनकर आओ। क्या कहती है...?

[विवेक उठकर अन्दर जाता है। परसादी मुंह पर अंगोछा रखकर हंसता है। कुंजबिहारी भी मन ही मन मुस्कराते हैं।

जेब से कुछ नोट निकाल कर परसादी को देते हुए]

**कुंजबिहारी** : ये पैसे रखलो...। बहूरानी जो कुछ चाहे अपनी इच्छा से ले आवें। मेरी ओर से दीपावली का उपहार है।

[ परसादी पैसे जेब में रखता है। अन्दर से विवेक आता है, बैठता है। अन्दर से ताली बजाने की आवाज आती है। परसादी मिठाई लेकर अन्दर जाता है। विवेक सिर खुजलाता है।]

**कुंजबिहारी** : क्या कहती थी बहूरानी...?

**विवेक** : [लम्बी साँस लेकर] कहती थीं कि अपने पिताजी से कहते क्यों नहीं कि हममें कोई झगड़ा नहीं होता , कभी-कभी मतभेद हो जाता है।

**कुंजबिहारी** : [हँसते हुए] मतभेद...। बेचारी मतभेद का अर्थ नहीं जानती। मैंने कहीं पढ़ा था कि मतभेद वहाँ होता है जहाँ सिद्धान्त और लक्ष्य किसी विरोधी भावना से प्रेरित होते हैं। विरोधी भावना में वैषम्य का विष सन्निहित होता है, जो व्यष्टि और समष्टि के वातावरण को दूषित बना देता है। इसके परिणाम स्वरुप वातावरण में समरसता नहीं रह पाती। पति-पत्नी का लक्ष्य चूंकि एक ही होता है अतः मतभेद होने का प्रश्न ही नहीं उठता। [खड़ा होता है] अच्छा, मैं चलता हूँ।

**विवेक** : थोड़ी देर और बैठिये ना। मैं चाय बनवाता हूँ।

**कुंजबिहारी** : [खड़े होकर मिठाई का दूसरा डब्बा विवेक को देते हुए] आज चाय का दिन नहीं... बेटे... मिठाई खाने का दिन है। जाता हूँ। बच्चे प्रतीक्षा देख रहे होंगे। मिल-जुल कर पूजा करना, हां।

[कहकर जाता है। विवेक द्वार तक छोड़ने जाता है। अन्दर से ज्योति सिर पर पट्टी बांधे कुपित होकर आती है। विवेक द्वारा छोड़े गये मिठाई के डब्बे को देख कर उठाकर अन्दर रखकर आती है। पुनः आकर सोफे पर निढाल पड़ जाती है। बाहर से विवेक आता है। ज्योति को देखकर ]

**विवेक** : ये सिर पर पट्टी किस खुशी में बाँधी गयी है...?

**ज्योति** : [कड़क कर] मिस्टर...? अपने पिताजी को देखकर इतने अकड़ने लगे। मेरी माताजी भी आती होंगी। तब उनसे कहूँगी कि इन्होंने अपने पिताजी के सामने मुझे झूंठी कहा।

**विवेक** : तुम सरासर झूंठ बोल रही थीं कि डाक्टर के यहाँ गये थे। गये थे काफी पीने और कहने लगीं कि डाक्टर के यहाँ...।

**ज्योति** : काफी पिलाने ले गये थे तुम।

**विवेक** : तो क्या हर्ज है...। यही कहतीं, यह क्यों कहा कि डाक्टर के यहां गये थे।

**ज्योति** : अरे तब नहीं तो अब सही। [लेट जाती है। विवेक चौंक कर देखता है ]

**ज्योति** : आंखे फाड़कर क्या देख रहे है ? मेरी तबियत ठीक नहीं है। चलो डाक्टर के यहाँ।

**विवेक** : बेकार बात मत करो। पूजा की तैयारी करो।

**ज्योति** : मैंने कहा ना, मेरी तबियत ठीक नहीं है। डाक्टर के यहाँ चलो।

**विवेक** : देखो ज्योति...! ज्यादा परेशान मत करो।

**ज्योति** : अरे, तुम्हें दिखता नहीं। सिर पर पट्टी बंधी है, सारे शरीर में दर्द है।

**विवेक** : [क्रोध में] तुम्हें कुछ नहीं हुआ। बेकार नाटक कर रही हो।

**ज्योति** : तुम्हारी इन्ही बातों से मेरे कलेजे में आग लग जाती है। मैं पहले ही गुस्से से सुलग रही हूँ, उस पर तुम ऐसी बातें करके मुझे और जलाते हो।

**विवेक** : भाई सुनो ! अगर सचमुच मेरी बातों से तुम जलने लगी हो तो मैं पहले पड़ौस से टेलीफोन करके, फायरब्रिगेड के दमकल मंगा लेता हूँ ताकि आग बुझाने का काम ठीक से किया जा सके।

**ज्योति** : [कड़क कर] मेहरबानी करके तुम मेरे सामने से चले जाओ। [खड़ी होकर सिर की पट्टी खींच लेती है। रोते हुए कहती है] शर्म नहीं आती। हर समय मुझे परेशान करते रहते हो।

**विवेक** : वाह जी वाह, परेशान तुम कर रही हो या मैं....? तुम्हें शर्म नहीं आती, त्यौहार के दिन सिर पर पट्टी बांधकर पड़ गयीं। [दरवाजा खटखटाने की आवाज। दोनों उधर देखते हैं। विवेक जाकर द्वार खोलता है। पड़ौसी सेठ केदारनाथ आते हैं। विवेक नमस्ते करता है। बैठने का संकेत करता है। सेठ केदारनाथ बैठते हैं। ज्योति भी हाथ जोड़कर नमस्ते करती है। सेठजी भी उत्तर में हाथ जोड़कर कहते हैं।]

**केदारनाथ** : नमस्ते ज्योति बहिन...! [ विवेक की ओर देखकर ] दिवाली की शुभ कामनाएं।

**विवेक** : आपको भी दीपावली शुभ हो... सेठजी..!

**केदारनाथ** : [मिठाई का पैकिट ज्योति की ओर बढ़ाते हुए] ये दिवाली की मिठाई।

**ज्योति** : [मिठाई लेती हुई] ये आपने.. क्यों तकलीफ की...?

**केदारनाथ** : आपके लिये विशेष नहीं है बहिन जी। फैक्ट्री और पड़ौस में सभी को बांटी गयी है। पुरानी पीढ़ी की परम्पराएं निभानी पड़ती हैं। पिताजी ने शुरू की थीं।

**विवेक** : यानी कि आप पुरानी पीढ़ियों की परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं।

**ज्योति** : अच्छी परम्परा हैं.... सेठजी....!

**केदारनाथ** : आज हालात बहुत बदल गये हैं विवेक बाबू...!

**विवेक** : वह कैसे सेठजी...?

**केदारनाथ** : उनके समय कारखाने में २५ कर्मचारी थे, आज २०० हैं। तब १० सेर मिठाई में काम हो जाता था। अब १०० किलो चाहिये।

पाँच हजार रुपये की आयी है। [ज्योति की ओर इंगित करके कहता है ] पूँछिये बहिनजी से। सुबह सामान की ठेल भरकर आयी थी। पहला डला तो मजदूर आपके दरवाजे पर ही ले आया था, तब ज्योति बहिनजी ने ही उसे हमारा दरवाजा बताया था।

**ज्योति** : क्या हुआ.. सेठजी...! आप बड़े आदमी हैं। आपको पाँच-दस हजार के खर्चे से क्या फर्क पड़ता है ?

**केदारनाथ** : सब यही समझते हैं बहिन जी...! कोई नहीं जानता कि हम अन्दर से क्या हैं ? जब से छोटा भाई अलग हुआ है... मैं टूटता ही जा रहा हूँ। जब तक संयुक्त परिवार था... भाई पर मेरा अधिकार था.. पर... अब, जबसे वह अलग हुआ है, मुझे शत्रु समझता है। ( भाव बदल कर) आपके पास भी एक काम से आया था... विवेक बाबू...!

**विवेक** : आज्ञा कीजिये।

**केदारनाथ** : भाई ने मुझ पर मुकदमा चला दिया है। शायद आपको मेरी ओर से गवाही देनी पड़े।

**ज्योति** : [विस्मय से] आपके भाई ने आप पर मुकदमा चला दिया है...?

**केदारनाथ** : [ कुछ भावुक हो जाता है। दो पल मौन रहता है ]

**ज्योति** : आपके भाई तो...।

[केदार नाथ ज्योति की ओर देखता है। ज्योति कुछ संकोच करती हुई]

**ज्योति** : ज.. जी....! मैंने पड़ोसियों से सुना था कि छोटे भाई तो आपकी बहुत इज्जत करते हैं। कोई पुराना किरायेदार कह रहा था कि एक बार किसी किरायेदार से आपकी कहा सुनी हो गया थी। वह शराब के नशे में था। आप पर चाकू लेकर

झपटा। आपके भाई ने आपको धकेल कर उसके चाकू का वार अपने ऊपर ले लिया था।

**केदारनाथ** : ( लम्बी साँस लेकर ) ऐसा ही प्रेम था बहिन जी...! फैक्ट्री में कभी काम ज्यादा होता। मैं वहाँ रुकता तो मेरा भाई रुकने नहीं देता था। जबर्दस्ती मुझे घर भेज देता, कहता कि आप बीमार पड़ जाएंगे, घर जाकर आराम कीजिये, यहाँ काम मैं देख लूंगा। सारी रात जागता, कष्ट उठाता, लेकिन मुझे जरा भी कष्ट नही होने देता था।

**विवेक** : भाई का सच्चा कर्तव्य तो यही होता है... सेठजी....!

**ज्योति** : हाँ ....। भाई पाला भी तो आपने ही था। सुना है कि आपकी माताजी उन्हें ६ वर्ष का छोड़ कर.....।

**केदारनाथ** : ( बात काटकर ) और जब पिताजी मरे थे वह ११ वर्ष का था। मेरी पत्नी ने उसे अपने बच्चे से ज्यादा समझ कर पाला....। वह कभी बीमार हो जाता तो सारी रात जागकर उसकी सेवा करती। जब तक वह ठीक न होता अपना खाना-पीना, नहाना-धोना भूल जाती। अब उसी ने मुझ पर कोर्ट में दावा किया है।

**विवेक** : किस बात का...?

**केदारनाथ** : इस बिल्डिंग में से अपने हिस्से का ।

**ज्योति** : इस मकान में से.....?

**केदारनाथ** : कहता है इसे बेचकर इसमें से आधा पैसा मुझे दो। जबकि बटवारे के समय इस मकान के हिस्से का ५ लाख रूपया हम उसे नकद दे चुके थे।

**ज्योति** : तब तो उनका कहना बिल्कुल गलत है।

**केदारनाथ** : और तो और रिश्तेदारों में मुझे चोर और बेईमान बताता फिरता है। कहता है बटवारे के समय भाई साहब ने बहुत-सा माल छिपा लिया था।

**केदारनाथ** : पिछले दिनों छोटी लड़की की शादी की । उसमें करीब २० लाख रुपया खर्च हुआ। उसके बाद बड़ी लड़की का छोछक देना पड़ा ( लम्बी साँस लेकर ) अब आपसे क्या छिपाऊँ....। इस बिल्डिंग को गिरवी रखकर ये काम किये हैं। फैक्ट्री में अब पहले जैसी आमदनी नहीं है। दो-चार परसेन्ट का प्रोफिट रह गया है। इधर पत्नी हमेशा बीमार रहती है। इनकी बीमारी के कारण फैक्ट्री को ठीक से देख नहीं पाता।

**ज्योति** : तो आपके भाई को क्या ये सारी बातें पता नहीं हैं.....? क्या उनका फर्ज नहीं कि वे अपनी भाभी को देखें....? अपने भाई की मुसीबत में काम आयें ?

**केदारनाथ** : सब है बहिनजी...! और वह करना भी चाहता है। पिछली बार जब मेरी पत्नी को हृदय का दौरा पड़ा तो वह सुनते ही चला आया। सारी रात अपनी भाभी के पास बैठा रहा। लेकिन....[कहते हुए अटक जाता है ]

**ज्योति** : लेकिन क्या सेठजी....?

**केदारनाथ** : [लम्बी साँस लेकर] क्या कहें बहिन जी....?

**ज्योति** : बताइये ना....। क्या बात है....?

**केदारनाथ** : बात है उसकी पत्नी...।

**ज्योति** : पत्नी....?

**केदारनाथ** : हां... बहिनजी...। उसकी पत्नी ने उसका दिमाग खराब कर रखा है। शादी के चार महीने बाद से ही उसने परिवार से अलग होकर स्वतंत्र रहने की जिद की। सुबह-शाम उसे एक ही धुन सवार रहती थी। हर वख्त मेरे भाई को कचोटती रहती थी कि अलग क्यों नहीं रहते... हम क्या नौकर हैं कि तुम्हारे भाई-भाभी की सेवा किया करें...? ( भाव बदल कर ) बड़े घर की बेटी थी, लाड़-प्यार में पली, जिद्दी हो गई।

**विवेक** : आपके भाई ने उसे समझाया नहीं....?

**केदारनाथ** : बहुत समझाया... विवेक बाबू....। उसने ही क्या... घर में सबने समझाया.... पर आधुनिक सभ्यता में, नई शिक्षा में पली हुई कोई-कोई लड़की इतनी आजाद हो जाती है कि अपने सामने किसी की सुनती ही नहीं। आज जिस वातावरण में वे पलती हैं, वह उन्हें स्वतंत्र जीवन की ओर प्रेरित करता है। उनमें पारिवारिक संगठन और सामाजिक दायित्व की भावना का विकास नहीं होने देता। यह व्यक्तिनिष्ठ भावना मनुष्य को इतना आत्मकेन्द्रित बना देती है कि वह केवल अपने सुख-साधनों के बारे में विचार करता है चाहे उसके कारण अन्य कितने भी लोगों को कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़े।

**विवेक** : [ अर्थपूर्ण दृष्टि से ज्योति की ओर देखता है। ज्योति विवेक से आंखें मिलते ही दूसरी ओर देखने लगती है ] लोग समझते हैं आप सेठ हैं, बहुत खुश होंगे।

**केदारनाथ** : [गम्भीर स्वर में] आज के जीवन की सबसे बड़ी बिडम्बना यही है.. विवेक बाबू...। आज आदमी बाहर से जो कुछ दिखायी देता है, अन्दर से वैसा नहीं है। आज का आदमी दोहरी जिन्दगी जी रहा है।

**विवेक** : मेरे पिताजी भी यही कहा करते हैं कि आधुनिक जीवन इतना कृत्रिम और कुत्सित हो गया है कि आज व्यक्ति और समाज को कृत्रिमता की कैंचुली पहन कर जीना पड़ रहा है। बाहर वह स्वच्छ और अधिक सभ्य दिखायी देता है; किन्तु उसके अन्तर में प्रतिपल द्वन्द्व की ज्वाला दहकती रहती है। आधुनिकता बोध के विचारों की आंधी उसके चिन्तन पर गर्द बनकर चढ़ी रहती है, जिसके कारण उसे सही जीवन-दृष्टि नहीं मिल पाती।

**केदारनाथ** : आप ठीक कहते हैं... विवेक बाबू...! दिन रात फैक्ट्री में देखता

हूँ। सरकारी अधिकारी आते हैं। फाइलें खोलते हैं, कानून की मर्यादा की रक्षा के लिये लेक्चर देने लगते हैं। जब उनकी जेब में चुपचाप नोट पहुँच जाते हैं, वे उसी कानून के अर्थ और परिभाषा बदल देते हैं। कभी-कभी मजदूरों के जलसे में बड़े-बड़े नेता आते हैं। मंच पर खड़े होकर आदर्श जीवन के उपदेश देते हैं, उनके भाषण और चित्र पत्रों में प्रकाशित होते हैं। कुछ दिन पहले एक नेताजी फैक्ट्री देखने आये। मजदूरों की सभा में भाषण देकर गये कि हम मजदूरों का शोषण नहीं होने देंगे। कुछ दिन बाद...। [कहता हुआ रुक जाता है। ज्योति और विवेक उसकी ओर देखते हैं। वह नहीं बोलता तब विवेक पूँछता है ]

**विवेक** : क्या... हुआ..? सेठजी...! कुछ दिन बाद... क्या हुआ....?

**केदारनाथ** : [ज्योति की ओर देखकर] ज्योति बहिन के सामने कहते हुए संकोच होता है।

**ज्योति** : नहीं... नहीं...। आप कहिये...। मै बुरा नहीं मानूँगी।

**केदारनाथ** : कहते हुए लज्जा आती है।

**विवेक** : जब नेताजी को करते हुए लज्जा नहीं आयी तो हमें सुनने में क्यों लज्जा आएगी..? सेठजी..., फिर ज्योति पढ़ी-लिखी महिला है। आधुनिक विचारों की है।

**केदारनाथ** : मेरी फैक्ट्री में दो महीने पहले एक लड़की मजदूरों में भर्ती हुई थी। एक दिन नेताजी का फोन आया कि उस लड़की को सुपरवाइजर बना दो। नियम के अनुसार उसकी तरक्की उस पद पर हो नहीं सकती थी। मैने फोन पर यही बात कह दी।

**ज्योति** : आपने बिलकुल ठीक किया।

**केदारनाथ** : लेकिन जानती हैं... ज्योति बहिन... क्या हुआ...?

**ज्योति** : क्या...?

**केदारनाथ** : सुनकर शायद आपको दुख होगा।

**ज्योति** : बताईये तो।

**केदारनाथ** : कुछ दिन बाद एक सरकारी अधिकारी ने आकर फैक्ट्री पर झूँठा आरोप लगाकर चालान कर दिया। फैक्ट्री की बिजली सप्लाई का पावर कनेक्शन काट दिया गया..।

**विवेक** : आपने उसकी ऊपर के अधिकारियों से शिकायत की...?

**ज्योति** : हाँ... आपको उसकी शिकायत करनी चाहिए थी।

**केदारनाथ** : की... बहिन जी..! मालुम हुआ कि मन्त्री महोदय आपसे बहुत नाराज हैं। हम कुछ नहीं कर सकते।

**ज्योति** : [घृणा से ] ये तो अन्धेर है। इसका मतलब कानून कोई चीज नहीं।

**केदारनाथ** : [हँसकर] बहिन जी...! कुछ मत पूछिये...। दो-चार दिन बाद वह लड़की मेरे आफिस में आयी। सहानुभूति दिखाकर बोली- मालिक आप कहें तो मैं कोशिश करूँ। लड़की की बात सुनकर मेरे तेवर तन गये। वह अकड़ कर बढ़ती हुई टेलीफोन के पास पहुँची। मैनेजर से कहा - जरा मन्त्रीजी से मेरी बात करा दीजिए। मैं उसकी सूरत देखने लगा। मैनेजर ने फोन मिलाकर लड़की को दिया। मैं गुस्से में कमरे से उठकर बाहर चला आया। लेकिन... लेकिन...। ज्योति बहिन... उसी दिन शाम को फैक्ट्री में पावर कनेक्शन चालू हो गया।

**ज्योति** : [विस्मय से] अरे... बापरे...। एक लेबर लड़की के कहने पर फैक्ट्री का कनैक्शन चालू हो गया।

**केदारनाथ** : और जानती हैं ज्योति बहिन...। दूसरे दिन पत्रों में क्या समाचार निकला...?

**ज्योति** : क्या....?

**केदारनाथ** : पत्रों में मोटे-मोटे अक्षरों में छपा, मन्त्री महोदय की उदारता। मन्त्रीजी की मजदूरों के प्रति गहरी सहानुभूति। एक मजदूर के कहने पर मन्त्रीजी ने एक फैक्ट्री के पीड़ित मजदूरों का उद्धार किया।

**विवेक** : [व्यंग्य करते हुए] भगवान का शुक्र है कि यह नहीं छपा कि मंत्रीजी ने एक मजदूर कन्या से विवाह करके प्रेम का आदर्श प्रस्तुत किया। सेठजी...।

**केदारनाथ** : जी....?

**विवेक** : आज्ञा दें तो एक बात कहूं...?

**केदारनाथ** : जरूर कहिये।

**विवेक** : आप अपने छोटे भाई का पता मुझे दे दीजिये।

**केदारनाथ** : क्या करेंगे....?

**विवेक** : मैं एक बार उन्हें समझाने की कोशिश करूंगा।

**केदारनाथ** : उसके मानने का सवाल नहीं विवेक बाबू ! बात उसकी पत्नी की है और वह अपने भाई की बात मानती है। उसका भाई....।

**ज्योति** : और आपके भाई... यह जानते हुए... भी।

**केदारनाथ** : ज्योति बहिन....! क्या कहें....! जब एक थे तब सबके सुख-दुख एक थे, अलग हैं तो सबके सुख-दुख भी बँट गये हैं। जब पुरानी बातें याद करता हूँ तो.. रात भर नींद नहीं आती। उम्र के साथ शरीर कमजोर होता जा रहा है। भगवान ने लड़का दिया सो अभी बहुत छोटा है। बहिनजी...! कैसा दुर्भाग्य है, जब सहारे की जरूरत है, तब अपने ही लोग साथ छोड़कर दूर हो गये हैं।

**विवेक** : सेठजी...! मेरे पिताजी कहा करते हैं कि आधुनिक युग का वातावरण बरसाती नदी के उद्दाम प्रवाह की भाँति है, जिसमें हम बहे जा रहे हैं। शीतलता और तारल्य के मोह में हम उसमें

कूद तो बैठे हैं; किन्तु अब उसके प्रवाह को काटने की क्षमता हममें नहीं है। विद्युतीय वेग ने हमें जकड़ लिया है। हमारा शरीर उस प्रवाह की भंवरों में फंस गया है और मन उससे बाहर निकलने को तिलमिलाता रहता है। हमारा आधुनिक स्वरूप इसी द्विधा के प्रवाह में बहे जा रहा है। तट से हम कट गये हैं और गन्तव्य ज्ञात नहीं।

**केदारनाथ** : [लम्बी सांस लेकर, उठता हुआ] सचमुच, विवेक बाबू....! हम तेजी से बहे जा रहे हैं.... पता नहीं किनारा कब मिलेगा...? अच्छा चलूँ।

[विवेक और ज्योति भी खड़े होकर सेठजी को नमस्ते करते हैं। जाते हुए ]

**केदारनाथ** : ज्योति बहिन....! हमारी आपकी बात किसी को बताइयेगा नहीं। इस दुनियां का विचित्र हाल है। लोग रोकर पूछते हैं और हंसकर उड़ाते हैं।

[हाथ जोड़कर बाहर चला जाता है। ज्योति और विवेक एक दूसरे को देखते हैं। कुछ पल तक दोनों शान्त बैठे रहते हैं। गहरा सन्नाटा छा जाता है। विवेक मौन तोड़ते हुए बोलता है।]

**विवेक** : सुनो ज्योति....।

**ज्योति** : [चुप रहती है ]

**विवेक** : व्यक्ति का अहम् उसको दिनोंदिन ऐकान्तिक बनाता जा रहा है। समाज में आधुनिकता के नाम पर जहाँ कुछ अच्छाइयाँ आ रही हैं, वहीं अन्दर ही अन्दर वैचारिक विकृति की सुरंग भी बिछती जा रही है। आधुनिक मानव ने स्वार्थ और लोलुपता का चश्मा आंखों पर चढ़ा लिया है। [ संयत होकर ] ऐसा नहीं कि आज सभी लोग अंधे होकर चलते हैं। समाज में जागरुक चेतना भी पहले की अपेक्षा अधिक व्यापक रूप से प्रसारित हो रही है।

ज्योति : और उन जागनेवालों में तुम भी होंगे....?

विवेक : मैं समाज की बहुत छोटी इकाई हूँ। यह भी नहीं कह सकता कि बहुत जागरुक हूँ। क्योंकि यह निर्णय नहीं ले पाता कि पुरानी सभ्यता में क्या अच्छा है और नयी सभ्यता में क्या बुरा है ? पिताजी प्रायः कहा करते हैं कि पुराना होने से सब कुछ अच्छा नहीं होता और नया होने से सब कुछ खराब नहीं होता। हमें तो जहाँ से जो कुछ अच्छा दिखे, ले लेना चाहिये। मगर ज्योति...। आज सेठजी की बातें सुनकर लगा कि समाज में आज केवल हमारे-तुम्हारे जैसा मध्यम वर्ग ही संतप्त नहीं है, जीवन के हर क्षेत्र में संघर्ष और तनाव परिव्याप्त है।

ज्योति : लेकिन हमारा संघर्ष सिद्धान्तों का है।

विवेक : [विस्मय से] सिद्धान्तों का....?

ज्योति : हां, सिद्धान्तों का।

विवेक : कैसे...?

ज्योति : पति-पत्नी के बीच भी कुछ सिद्धान्त हुआ करते हैं, जिनके कारण दोनों का जीवन स्नेह के सूत्र में बंधा रहता है।

विवेक : तो... तो... मैंने ऐसा कौन-सा सिद्धान्त तोड़ दिया, जिसके कारण हमारे तुम्हारे सम्बन्धों में तनाव आ गया....?

ज्योति : कहने से कोई फायदा नहीं।

विवेक : नुकसान भी नहीं है।

ज्योति : है। मैं कहूँगी, तुम मेरी बात काटने के लिये कोई बहाना बनाओगे। मुझे बहाना सुनते ही गुस्सा आयेगा। मेरा स्वभाव तुम जानते हो, मेरा माथा एक मिनट में गरम हो जाता है।

विवेक : तुम बताओ तो। बात ठीक होगी तो जरूर मानूँगा।

ज्योति : मान ही लो तो झगड़ा क्यों हो....?

विवेक : विश्वास करो ज्योति...! मैं तुम्हारी तरह जिद्दी नहीं हूं... पर मेरी

मानने न मानने की सीमाएं हैं। उन्हें तुम भी जानती हो। जैसे अभी अपने यहां मेहमान आ गये तो मुझे पाँच सौ रूपये उधार लाने पड़े। नौकरी करता हूँ, वेतन उतना ही मिलता है। मंहगाई दिन पर दिन बढ़ती जा रही है।

**ज्योति** : फिर वही मंहगाई का बहाना...।

**विवेक** : खुद सोचो ज्योति....! मंहगाई न होती तो मेरा सूट अब तक बिना सिले रह जाता ? कपड़ा अगस्त का आया पड़ा है। क्या मुझे नये कपड़े पहनने का शौक नहीं है....? लेकिन मंहगाई के कारण अब तक नहीं सिलवाया।

**ज्योति** : फिर सच कहूँगी तो उछल जाओगे। इसीलिये तो मैं बुरी हूँ कि साफ कह देती हूँ।

**विवेक** : बात ठीक होगी तो क्यों उछलने लगा....?

**ज्योति** : तो ये बताइये मिस्टर.... सूट का कपड़ा खरीदते समय मंहगाई नहीं थी, मेरी साड़ी खरीदते समय आपको मंहगाई सताने लगी।

[घूरकर ज्योति की ओर देखता है। ज्योति मुँह घुमा लेती है। विवेक परेशान होकर कुछ पग टहलता है, रुक कर ]

**विवेक** : सुनो [ज्योति उसकी ओर देखती है] तुम्हारी दृष्टि में मेरे सूट का कपड़ा बहुत खल रहा है ना, तो ऐसा करो, मेरे सूट का कपड़ा तुम पहन लो, तुम्हारी साड़ी मैं पहना लेता हूं, उन्हें पहन कर पूजा कर लेंगे।

**ज्योति** : [क्रोध में भड़क कर] करने लगे ना बेहूदी बात। मैं मर्दों के सूट का कपडा पहनूँगी....? कुछ अक्ल है....?

**विवेक** : अब औरतें हर मामले में आज मर्दों की समानता करने लगी हैं तो कपड़े पहनने में क्या हर्ज है....?

[इसी बीच परसादी काका आते हैं। ज्योति के पास जाकर जेब

से रुपये निकाल कर देते हुए ]

परसादी : बड़े मालिक आपके लिये दे गये थे। कहते थे त्यौहार का उपहार है, अपनी इच्छा से कुछ भी खरीद लें। [ ज्योति रुपये लेने में संकोच करती है। विवेक की ओर देखती है ]

विवेक : [प्रसन्न होकर] भाई.... वाह... वाह....! हो गया काम, अब तो साड़ी के रुपये भी मिल गये। [ज्योति रुपये लेने को हाथ नहीं बढ़ाती। विवेक खड़े होकर समीप जाकर कहता है] सोचो मत...। ये उपहार नहीं, बड़ों का आशीर्वाद है। उठो, अब पूजन के लिये तैयार हो जाओ। [विवेक रुपये काका से लेकर ज्योति को देता है। वह संकोच करती हुई लेती है और रुपयों को घूरकर देखती रहती है। प्रसन्न होकर]

विवेक : काका....! तुम पूजन शुरू करो, हम लोग तैयार होकर अभी आते हैं। चलो, ज्योति.... अब... हाथ-मुंह धोकर कपड़े पहनो। [कहकर दोनों अन्दर जाते हैं। परसादी पूजन-स्थल पर जाकर पूजा प्रारम्भ करता है। माचिस से दीपक जलाता है, अगरबत्ती जलाता है। स्मरण आने पर अन्दर जाता है। अपनी पत्नी का छोटा-सा चित्र लाकर पूजा में रखता है और उसे देखकर धीरे-धीरे भावुक हो जाता है, सिसकियां लेने लगता है। इसी अवधि में विवेक और ज्योति अन्दर से आते हैं। परसादी अंगोछे से आँसू पौंछ रहा है। उसे देखकर दोनों स्तम्भित होकर एक ओर शान्त खड़े रह जाते हैं। एक दूसरे को संकेत से चुप रहने को कहते हैं ]

परसादी : [मन्द और भावुक स्वर में] होनी के आगे किसकी चलती है...।

ज्योति : [मुँह ही मुँह में] परसादी काका तो रो रहे हैं।

विवेक : उन्होंने पूजा में अपनी पत्नी का चित्र भी रखा हुआ है।

ज्योति : चुपचाप देखें...।

**परसादी** : [भरे गले से] संतोष की मां....। तू चाहे बिना पढ़ी-लिखी थी, पर थी बड़ी समझदार। मेरे लिये तो तू साच्छात लच्छमी का औतार थी।

**ज्योति** : सुन लो, काका अपनी पत्नी को लक्ष्मी का अवतार समझते थे। ये है पति-पत्नी का प्रेम...।

**विवेक** : और उनकी पत्नी उनको क्या समझाती थी, देवी जी....? ताली एक हाथ से नहीं, दोनों हाथों से बजा करती है।

**परसादी** : संतोस की मां...। इतने तीज-त्यौहार आये। तूने अपने मुँह से कभी कुछ नहीं मांगा।

**विवेक** : [ज्योति से] सुन लो। उसने कभी कुछ नहीं मांगा....।

**परसादी** : मैं कभी चिन्ता करता तो तू मुझे धीरज बंधाती कि मुझे पैसे की नहीं तुम्हारी जरूरत है। कभी तीज-त्यौहार पर घर में पैसा न होता तो तू कहती कि पूजा-पाठ पैसे से नहीं मन की पवित्तरता से होता है। सचमुच संतोस की माँ.... तूने मेरे घर में रुखा-सूखा खाकर दिन काट दिये पर कभी किसी चीज के लिये कलेस नहीं किया।

**विवेक** : ध्यान से सुन लो। नारी का यही गुण उसे पूज्य बनाता है। [ज्योति धीरे-धीरे मुँह सामने की ओर घुमाती है। मन में द्वन्द्व छिड़ा हुआ है। जड़वत खड़ी विचारों में डूबी है, विवेक काका के पास जाता है ]

**विवेक** : [चित्र हाथ में लेकर ] बड़े भाग्यशाली हो काका। भगवान ने तुम्हें सांसारिक सम्पदा न देकर लक्ष्मीस्वरूपा पत्नी दी। इसीलिये बड़े-बूढ़े स्त्री को घर की लक्ष्मी कहा करते थे।

**परसादी** : [चित्र वापस लेकर जाकेट की जेब में रखते हुए] इसमें सक नहीं भैया जी....! जब तक वह घर में रही मेरे घर में सकल आनन्द रहे। घर नहीं भैया जी..., उसकी वजह से मेरा घर

तो स्वर्ग जैसा था। [काका और विवेक ज्योति की ओर देखते हैं। वह पूर्ववत विचारों में खोई हुई है। विवेक पास बढ़कर पूछता है ]

**विवेक** : क्या हुआ ज्योति....?

**ज्योति** : [कोई उत्तर नहीं देती]

**परसादी** : किस सोच में पड़ गयीं. बहूरानी....?

**ज्योति** : [गम्भीर वाणी में] काका... आज। फिर... मेरे मन में न जाने... क्यों... एक तूफान-सा उठ रहा है....? मेरे अन्दर... न जाने....। [तभी बाहर से कुंजबिहारी जी की तेज आवाज आती है। उनकी आवाज सुनकर सब सावधान होते हैं। वह बाहर से ही पुकारते हैं ]

**कुंजबिहारी** : परसादी.....! परसादी....!! अरे घर में है या नहीं....?

**कुंजबिहारी** : [मंच पर आकर] सुनता नहीं बहरे....?

[ज्योति घूमकर घूंघट कर लेती है। परसादी हाथ जोड़कर खड़ा होता है ]

**विवेक** : पिताजी...!

**कुंजबिहारी** : [परसादी की ओर बैंत करके] तू घर पर चिट्ठी देने गया था....?

**परसादी** : मालिक, आप घर पर थे नहीं। मैं प्रमोद भैया को दे आया था।

**कुंजबिहारी** : जरूरी चिट्ठी बच्चों को देनी चाहिये थी... क्या.?

**परसादी** : कुछ गलती हो गयी मालिक....?

**कुंजबिहारी** : प्रमोद चिट्ठी को रखकर भूल गया। उसे अब आद आया।

**परसादी** : मिल तो गयी मालिक...?

**कुंजबिहारी** : पर मैं पूछता हूँ... तू.... बूढ़ा हो गया। तुझे अक्ल कब आयेगी?

**परसादी** : कैसे मालिक ?

**कुंजबिहारी** : तू ज्योति की माँ वाली चिट्ठी मेरे घर दे आया और मेरी चिट्ठी ज्योति की मां को दे आया।

[सब लोग चौंकते हैं। परसादी का मुँह खुला रह जाता है। पागल-सा देखता है। ज्योति और विवेक भी जड़ हो जाते हैं ]

**परसादी** : [अटकता हुआ] ऐसा... हो गया...।

**कुंजबिहारी** : मैं इसीलिये कहता हूं कि तू अब घर बैठ। तेरे बस का काम करना नहीं है। कितनी बार तुझसे कहा कि अपना हिसाब ले जा....।

**परसादी** : [उदास होकर] मा...लि...क।

**कुंजबिहारी** : कुछ नहीं। अपना हिसाब कर ले।

**परसादी** : भूल हो गयी मालिक...। भूल हो गयी....। [हाथ जोड़कर पास जाते हुए] मालिक...! एक बार और माफ कर दीजिये... मालिक..!

**कुंजबिहारी** : बिल्कुल नहीं।

**परसादी** : [गिड़गिड़ाते हुए] मालिक, आखिरी बार...।

[विवेक दोनों की ओर देखता है। आगे बढ़कर पिता से कहता है ]

**विवेक** : पिताजी...! क्षमा कर दीजिये। पुराने आदमी हैं।

**कुंजबिहारी** : [दृढ़ता से] परसादी...!

**परसादी** : [ भीत स्वर में ] मा.. लि... क !

**कुंजबिहारी** : घर से बाहर निकल जाओ।

**परसादी** : म...मा....! [पूरा शब्द नहीं बोल पाता कि कुंजबिहारी बोलते हैं ]

**कुंजबिहारी** : [क्रोध से] कुछ नहीं। तुम्हें यहाँ से जाना ही होगा।

[ परसादी उदास होकर सिर नीचा किये बाहर की ओर बढ़ता

है। अंगोछे से आँसू पौंछ रहा है। द्वार के समीप पहुँचता है, तभी कुंजबिहारी आवाज़ देते हैं।]

**कुंजबिहारी** : परसादी !

[परसादी पलटकर देखता है। कुंजबिहारी कुछ मीठे स्वर में बोलते हैं ]

**कुंजबिहारी** : पागल, त्यौहार के दिन रो रहा है। आँसू पौंछ। आज रोने का नहीं, खुश होने का दिन है। [ उसकी ओर घूमकर ] सुन...। जाने से पहले यह नहीं पूछा कि मैने तुझसे कहाँ जाने को कहा ?

**परसादी** : [अटकते हुए] घर से बाहर.. मालिक...।

**कुंजबिहारी** : घर से बाहर, लेकिन मेरे घर। वहाँ प्रमोद और सुनीता अकेले हैं। जाकर उनके साथ खेलो। मैं आता हूँ।

**विवेक** : पिता... जी....!

**कुंजबिहारी** : [ डाटकर ] तुम चुप रहो। [परसादी से ] परसादी...!

**परसादी** : जी ।

**कुंजबिहारी** : तुम घर पहुँचो। जाओ !

[ज्योति परसादी के पास जाकर उसके कान में कुछ कहती है। कुंजबिहारी तथा विवेक उधर देखते हैं। परसादी कुंजबिहारी से कहता है।]

**परसादी** : बड़े मालिक...!

**कुंजबिहारी** : बहू कुछ कहना चाहती है...? तुम जाओ। हम सब बातें कर लेंगे। [परसादी जाता है। कुंजबिहारी बैठता है। दोनों को डाटकर कहता है ]

**कुंजबिहारी** : बैठो विवेक....। बहूरानी, तुम भी बैठ जाओ।

[दोनों सहमे से खड़े रहते हैं। कुंजबिहारी और कठोर होकर बोलते हैं ]

**कुंजबिहारी** : बैठ जाओ, मुझे तुम लोगों से जरूरी बातें करनी हैं।

[विवेक कुंजबिहारी के पास आकर बैठता है ! ज्योति कुछ आढ़ में बैठती है।]

**विवेक** : [झेंपता हुआ] वो... पिताजी...। बात यह.. हुई कि.... बहस की बात थी...। मैं आपको पत्र लिख बैठा।

**कुंजबिहारी** : लेकिन क्या लाभ हुआ उससे....?

**विवेक** : लाभ...। हाँ...। जब आपको लिखा हुआ पत्र... इनकी माता जी के पास पहुंच.. गया... तो...। बेकार था...।

**कुंजबिहारी** : तो तुम बेकार पत्र लिखने में समय नष्ट करते हो....?

**विवेक** : [अटकता हुआ] वो... मैने... कहा ना... बहस में।

**कुंजबिहारी** : [डाटकर] यह घर है या कचहरी... जहाँ बहस हुआ करती है ?

**विवेक** : घर है पिताजी... घर....। अब बहस नहीं होगी।

**कुंजबिहारी** : लेकिन अब मैं बहस करूंगा।

**विवेक** : [ आश्चर्य से ] आ... आप...?

**कुंजबिहारी** : हाँ... मैं। ध्यान से सुनो। आज मैं तुम्हारा पिता हूँ। किसी समय तुम्हारी तरह मैं भी नवयुवक था। मेरा भी विवाह हुआ था। तुम्हारी मां और मैने अपना पारिवारिक दाम्पत्य जीवन प्रारम्भ किया था। हमारे ऊपर परम्परा की मर्यादाओं के अंकुश थे, क्योंकि समाज का वातावरण कुछ भिन्न था। उस काल की सामाजिक व्यवस्था के कारण हमारा दृष्टिकोंण भिन्न था। आज सामाजिक व्यवस्था का परिवेश पूर्णतः परिवर्तित हो चुका है।

**विवेक** : [बात काटकर] पिताजी....! अब हम कभी इस प्रकार के पत्र नहीं लिखेंगे।

**कुंजबिहारी** : नहीं मैं चाहता हूँ कि तुम नित्य ऐसे पत्र लिखा करो।

[ज्योति संकेत से विवेक को बुलाती है। विवेक समीप जाता है।

ज्योति चुपचाप उससे कुछ कहती है। वह आकर पिता से कहता है ]

**विवेक** : ज्योति कह रही है, हम बहुत लज्जित हैं। हमें क्षमा कर दीजिये।

**कुंजबिहारी** : उसे जो भी कहना है मेरे सामने आकर कहे।

**विवेक** : [आश्चर्य से] वो... वो... आपके सामने कैसे बोल सकती है...?

**कुंजबिहारी** : क्यों नहीं बोल सकती....? क्या उसके मुँह में जीभ नहीं है....?

**विवेक** : प्रश्न परम्परा और मर्यादा का है।

**कुंजबिहारी** : [व्यंग्यपूर्ण हंसी के साथ] परम्परा...। विवेक, इस समय तुम्हें परम्परा का ध्यान आ रहा है। (विवाह से पूर्व जब स्वयं लड़की देखने गये, तब परम्परा का ध्यान नहीं आया ?) परम्परा मैंने निभायी थी। विवाह से पूर्व मैंने तुम्हारी माँ को नहीं देखा था और न ही देखने की इच्छा व्यक्त की थी। मेरे माता-पिता ने उसे देखा और मैंने उसे स्वीकार कर लिया।

**विवेक** : [ संकोच से ] मुझसे... भूल... हुई... पिताजी....।

**कुंजबिहारी** : नहीं। कोई भूल नहीं हुई, विवेक...। आज युग परिवर्तित हो गया है। आज लड़के स्वयं लड़की को देखने लगे हैं। तुमने भी वही किया जो आधुनिक काल मैं हो रहा है। भूल तुमसे नहीं, ज्योति से हुई है।

**विवेक** : [ चौंक कर ] वह क्या पिताजी...?

**कुंजबिहारी** : उसने हमसे पर्दा किया।

**विवेक** : परिवार की पुरानी परम्परा...।

**कुंजबिहारी** : जब पुराने परिवारों का अस्तित्व अमर नहीं तो उसकी पुरातन रीतियाँ कैसे अमर रह सकती हैं ? रीतियों का निर्धारण परमात्मा नहीं करता, मनुष्य करता है। देश काल की अपेक्षानुसार

मनुष्य रीतियाँ बनाता रहा है, बदलता रहा है, मिटाता रहा है। हमारी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि हम सम्पूर्ण सामाजिकता को सीमित सन्दर्भ में देखते हैं। इसीलिए हम अटक कर रह जाते हैं। सचेतन समाज की रीति-नीतियाँ भी उसी की भाँति चेतन और गतिशील होनी चाहिये। चेतना का चक्र रुकते ही समाज और उसकी शक्ति जड़ हो जाती है।

**विवेक** : आज... आज... आप कैसी बातें कर रहे हैं.... पिताजी ?

**कुंजबिहारी** : (मैने तुम्हारे दाम्पत्य जीवन को इसी दृष्टि से स्वच्छन्दता में पल्लवित होने का अवसर दिया था।) मैंने सोचा कि मेरे साथ रहकर तुम घुटन का अनुभव करोगे, तुम्हारा सहज विकास अवरुद्ध हो जायेगा। स्वतंत्र रहकर तुम अपने को आधुनिक वातावरण के अनुकूल बना सकोगे। मैं यह कह सकूंगा कि मेरे बेटे-बहू पुराने इतिहास की अनुकृति नहीं, नई पीढ़ी के सजीव चित्र हैं। (किन्तु... किन्तु... तुम...[ भावुक होकर ] तुम न पुराने रह सके, न नये बन सके।) ऊहापोह का पथरीला पथ तुम्हें सही जीवन दृष्टि न दिखा सका। तुम बीते हुए युग के सम्बन्ध में सोचते रहे, जो युग जी रहे हो, उसे तुमने देखने की चेष्टा नहीं की। मैं पूछता हूँ.... ज्योति मुझसे क्यों नहीं बोल सकती...? क्या आज बहुएँ अपने श्वसुर से नहीं बोल रही हैं अथवा क्या उसने मेरे पितृत्व भाव में कभी कोई कमी देखी है...?

**विवेक** : यह अंकुश तो पिताजी, उस पर मैने ही लगाया था।

**कुंजबिहारी** : क्यों....? क्या आधुनिक युग में इसकी कुछ सार्थकता है ? आज का युग नारियों को पुरुष के समान प्रतिष्ठित करने की घोषणा कर रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आज नारी पुरुषों के समान अपनी कार्य-क्षमता और कौशल का कीर्तिमान स्थापित कर रही हैं। आधुनिक बोध के धरातल परिवर्तित हो चुके हैं। इतने पर भी हम नहीं जाग सकते, तो हमें आधुनिक समाज का

परित्याग कर अरण्यवासी हो जाना चाहिए। [ज्योति की ओर घूमकर कहता है] ज्योति....! इधर आओ, मेरे सामने। [ ज्योति सकुचाती धीरे-धीरे आगे आती है। सामने आकर खड़ी होती है ]

**कुंजबिहारी** : विवेक ।

**विवेक** : जी।

**कुंजबिहारी** : इससे कहो सोफे पर बैठ जाए।

**विवेक** : बैठो... ज्योति....। [ज्योति बैठ जाती है ]

**कुंजबिहारी** : मुँह से घूंघट हटाओ। [वह संकोच करती है]

**कुंजबिहारी** : बेटे का कहना मान सकती हो, बाप का नहीं....? बेटे ने कहा- बैठ जाओ, तुरन्त बैठ गयीं। मैंने कहा--घूंघट हटाओ....।

**विवेक** : हटा दो घूंघट... ज्योति....!

**कुंजबिहारी** : मुझे तुमसे बहुत शिकायत है।

**ज्योति** : [चौंक कर घूंघट हटाकर पूँछ बैठती है] मुझसे...?

**कुंजबिहारी** : तुमने मुझे आज तक यह क्यों नहीं बताया कि तुम्हारी माँ को कई महीने से खाँसी और बुखार है ? उनका किरायेदारों से मुकदमा चल रहा है।

**विवेक** : क्या...? किरायेदारों से मुकदमे का तो मुझे पता था लेकिन... खाँसी और बुखार की... बात.... मुझे भी नहीं...।

**कुंजबिहारी** : उन्हें टी.बी. है।

**विवेक** : आपको कैसे पता....?

**कुंजबिहारी** : अभी चैक-अप करा कर आया हूँ।

**विवेक** : [ आश्चर्य से ] आ...प...?

**कुंजबिहारी** : ज्योति का पत्र पढ़कर पहले वहीं गया था। एक किरायेदार उनसे झगड़ा कर रहा था। वह उसे समझाने की चेष्टा कर

रही थीं। तभी उन्हें जोरों की खाँसी उठी। मैं चुपचाप खड़ा देखता रहा। जैसे ही उनकी नजर मुझ पर पड़ी, बेचारी अन्दर भागीं। मुझसे सहन न हो सका। मैं बिखर गया। मैंने कहा आप हमें अपना समझती हैं कि शत्रु... ? यदि अपना सम्बन्धी समझती हैं तो ये मत भूलिये कि हमारा सम्बन्ध आज के युग में हुआ है। युग अब बदल गया है। आज घरों में दीपक नहीं जलते बिजली का प्रकाश होता है। आज का आदमी यात्रा बैलगाड़ी से नहीं करता रेल और बसों से करता है।

**ज्योति** : फिर... फिर... क्या हुआ पिताजी...?

**कुंजबिहारी** : समझ गयीं। मेरी बात मान ली। मैं तुरन्त उन्हें अपने साथ लेकर डाक्टर भंडारी के यहाँ गया।

**ज्योति** : [ विस्मय से ] माँ.. आपके साथ चली गयीं...?

**कुंजबिहारी** : क्यों, क्या मैं अछूत हूँ कि मेरे साथ नहीं जा सकती थीं ? आज तो अछूत भी हमारे साथ हर कार्य में सक्रिय हैं। क्या वह साथ नहीं जा सकती थीं...? पहले कहने लगीं, आज त्यौहार है, फिर किसी दिन चलेंगे। मैंने कहा—मानवता से बड़ा न कोई त्यौहार होता है और न कोई सम्बन्ध। दीपावली हर साल आयेगी लेकिन तनिक सी लापरवाही से किसी का जीवन अंधकारमय हो जाये तो दीपावली का प्रकाश उसके अंधेरे को नहीं मिटा सकता। मैं तुरन्त ले गया, चैक-अप कराया। लौटते हुए उनके लिए इंग्जैक्शन देता जाऊंगा।

**विवेक** : [गद्‌गद् होकर कुंजबिहारी के पाँव छूती है] पि...ता... जी...। [भावुक होकर सिसकियाँ लेने लगती हैं ]

**कुंजबिहारी** : आज रोने का दिन नहीं... बेटी ! प्रसन्नता का दिन है। अमा की कालिमा कट रही है, दीपक के प्रकाश की किरणें उद्‌बोधन

कर रही हैं कि अंधकार के कुहासे में मत भटको। पीछे नहीं, आगे के पथ को देखो। यदि तुम बहक गये हो, भटक गये हो तो मेरे आलोक का आश्रय लेकर अपनी-दृष्टि को सही दिशा में ले जाओ।

**विवेक** : [आश्चर्य से] पि...ता...जी...। [ज्योति की ओर देखता है]

**कुंजबिहारी** : [खड़े होकर जाते हुए] सोचो... विवेक...। सोचो... युग के नवोन्मेष का शंख गूंज रहा है। अपने मस्तिष्क से जर्जर मान्यताओं को निकालकर नयी जीवन दृष्टि का अन्वेषण करो। आधुनिक बोध को युगीन चेतना के समीप जाने दो [कहता हुआ तेजी से निकल जाता है। कुंजबिहारी के जाने के पश्चात विवेक और ज्योति एक दूसरे को स्नेह से देखते हैं। विवेक का ध्यान पूजा-स्थल की ओर जाता है। वह वहाँ पहुंच कर हाथ के संकेत से ज्योति को समीप बुलाता है। ज्योति सिर हिलाकर ना करती है। पश्चात हाथ बाहर की ओर दिखाकर कहती है]

**ज्योति** : अब.. पूजा.. वहाँ... । पिताजी के चरणों में बैठकर होगी...। [ कहकर तेजी से बाहर जाती है। विवेक चौंक कर पुकारता हुआ पीछे भागता है ]

**विवेक** : ज्योति...ठहरो...। मैं भी आ रहा हूँ। ज्योति, ठहरो.. ठहरो..। ठहरो.. ज्योति...। पिताजी के पास... हम... दोनों साथ चलेंगे.. साथ।

## समाप्त

## डा० ब्रजवल्लभ मिश्र

• सेवानिवृत प्रोफेसर
• सन् १९५० से निरंतर लेखन
• नाटककार • निर्देशक • अभिनेता
• नृत्य विशेषज्ञ • चित्रकार • समीक्षक

- उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा श्रेष्ठ अभिनेता के रूप में पुरस्कृत
- उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा श्रेष्ठ निर्देशक के रूप में सम्मानित
- उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा श्रेष्ठ नाटककार के रूप में पुरस्कृत
- गुजरात द्वारा शिखर सम्मान से पुरस्कृत
- मध्य प्रदेश द्वारा अ०भा० सेठ गोविन्द दास पुरस्कार से सम्मानित
- दर्जनों नाटक लिखे, निर्देशित किये, अभिनय किया
- आकाशवाणी के 'अ–श्रेणी' के नाट्य–कलाकार
- विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में रचनाएं
- अनेक नाट्य–कार्यशालाओं के प्रशिक्षक
- हिन्दी–अंग्रेजी दोनों भाषाओं में पुस्तकें
- राष्ट्रीयस्तर के प्रोफेसर
- प्रदर्श्य कलाओं के विशेषज्ञ, सिद्धांत और व्यवहार दोनो पक्षों पर समान अधिकार
- अनेक विदेशी परियोजनाओं से सम्बंद्ध
- साहित्य और कला की अनेक विधाओं के मर्मज्ञ
- भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' का हिन्दी–अनुवाद किया
- 'नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक संदर्भ – कोश' बनाया
- उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी द्वारा नाट्य अध्येता के रूप में सम्मानित